श्रीउपदेशामृत

श्रील रूप गोस्वामी कृत
श्रीउपदेशामृत की
अधिकृत हिन्दी प्रस्तुति

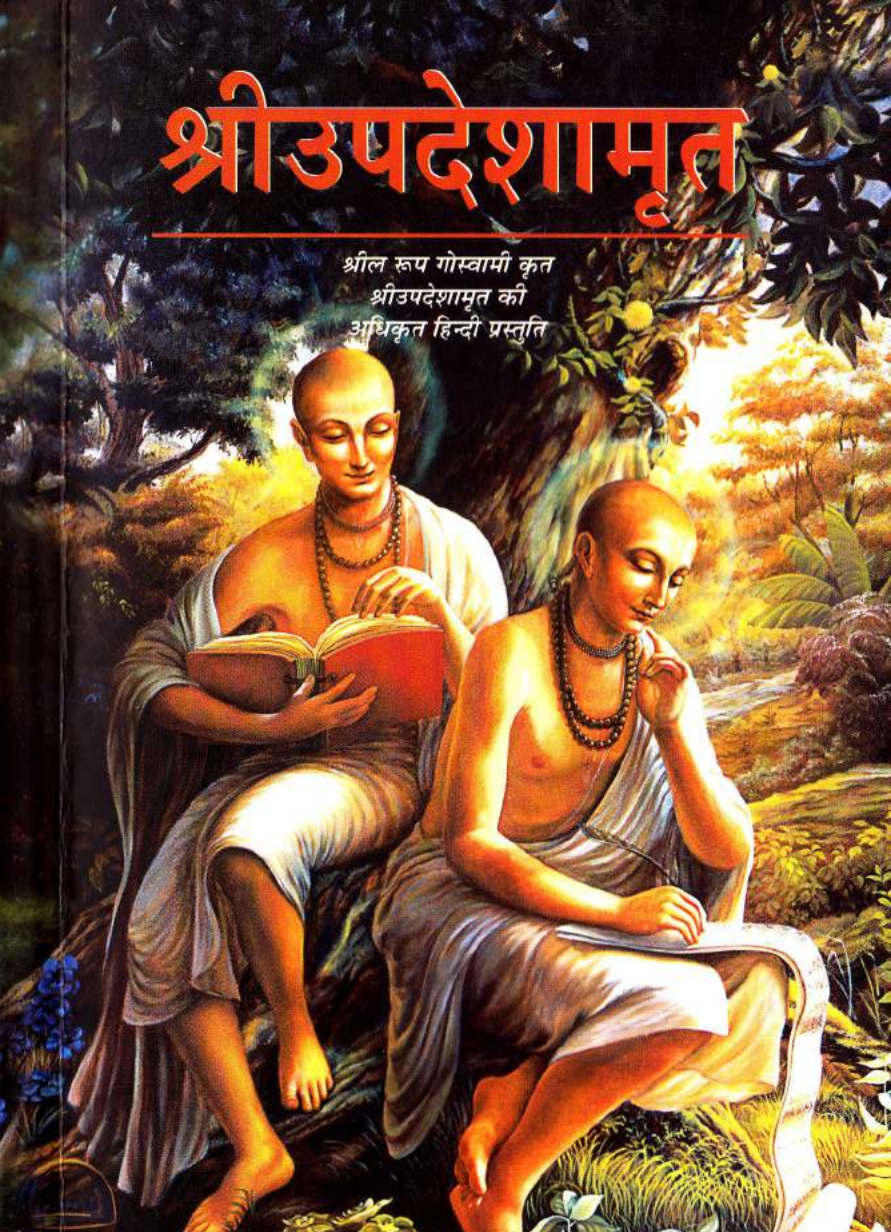

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

इस ग्रंथ की विषयवस्तु में जिज्ञासु पाठकगण अपने निकटस्थ किसी भी इस्कॉन केन्द्र से अथवा निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करने के लिए आमंत्रित हैं :

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
हरे कृष्ण धाम, जुहू
मुंबई ४०० ०४९

वेब / ई-मेल :
www.indiabbt.com
admin@indiabbt.com

The Nectar of Instruction (Hindi)

1st printing : 10,000 copies
2nd to 13th printings : 1,41,500 copies
14th Printing, August 2013 : 20,000 copies

© १९७५ भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
सर्वाधिकार सुरक्षित

ISBN : 978-93-82716-91-4

प्रकाशक की अनुमति के बिना इस पुस्तक के किसी भी अंश को पुनरुत्पादित, प्रतिलिपित नहीं किया जा सकता। किसी प्राप्य प्रणाली में संग्रहित नहीं किया जा सकता अथवा अन्य किसी भी प्रकार से चाहे इलेक्ट्रोनिक, मेकेनिकल, फोटोकॉपी, रिकार्डिंग से संचित नहीं किया जा सकता। इस शर्त का भंग करने वाले पर उचित कानूनी कार्यवाही की जाएगी।

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट द्वारा
प्रकाशित एवं मुद्रित।

APL3

विषय-सूची

आमुख ..... *vii*
श्लोक १ ..... १
श्लोक २ ..... १७
श्लोक ३ ..... ३२
श्लोक ४ ..... ४५
श्लोक ५ ..... ५६
श्लोक ६ ..... ६९
श्लोक ७ ..... ७७
श्लोक ८ ..... ८४
श्लोक ९ ..... ९१
श्लोक १० ..... ९४
श्लोक ११ ..... १०३
लेखक परिचय १०७
विशिष्ट शब्दावली १११
सन्दर्भ ११६
श्लोकानुक्रमणिका ११७

श्लोक १

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
जिह्वावेगमुदरोपस्थ वेगम् ।
एतान्वेगान् यो विषहेत धीरः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥ १ ॥

वाचः—वाणी के; **वेगम्**—वेग को; **मनसः**—मन के; **क्रोध**—क्रोध के; **वेगम्**—वेग को; **जिह्वा**—जीभ के; **वेगम्**—वेग को; **उदर-उपस्थ**—पेट तथा जननेन्द्रियों के; **वेगम्**—वेग को; **एतान्**—इन; **वेगान्**—वेगों को; **यः**—जो; **विषहेत**—सहन कर सकता है; **धीरः**—धीर, गम्भीर; **सर्वाम्**—समस्त; **अपि**—निश्चय ही; **इमाम्**—इस; **पृथिवीम्**—संसार; **सः**—वह व्यक्ति; **शिष्यात्**—शिष्य बना सकता है।

अनुवाद

वह धीर व्यक्ति जो वाणी के वेग को, मन की माँगों को, क्रोध की क्रियाओं को तथा जीभ, उदर एवं जननेन्द्रियों के वेगों को सहन कर सकता है, वह सारे संसार में शिष्य बनाने के लिए योग्य है।

तात्पर्य

श्रीमद्भावगत (६.१.९-१०) में परीक्षित महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से अनेक बुद्धिमत्तापूर्ण प्रश्न किये। इनमें से एक प्रश्न था, "यदि लोग अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकते, तो वे प्रायश्चित्त क्यों करते हैं?" उदाहरणार्थ, एक चोर भलीभाँति जानता है कि वह चोरी करने पर पकड़ा जा सकता है। यही नहीं, वह किसी अन्य चोर को पुलिस द्वारा वास्तव में बन्दी बनाया हुआ देख भी सकता है, फिर भी वह चोरी करता रहता है। सुनकर तथा देखकर अनुभव प्राप्त किया जाता है। जो कम बुद्धिमान होता है, वह देखकर अनुभव प्राप्त करता है ओर जो अधिक बुद्धिमान है, वह सुनकर अनुभव प्राप्त करता है। जब बुद्धिमान व्यक्ति कानून की किताब तथा शास्त्रों से सुनता है कि चोरी करना अच्छा नहीं है और चोर पकड़े जाने पर दण्डित होता है, तो वह चोरी से दूर रहता है। कम बुद्धिमान व्यक्ति, हो सकता है पहले पकड़ा जाये और दण्डित हो ले, तब जाकर वह यह सीख पाये कि चोरी नहीं करनी चाहिए। किन्तु धूर्त, मूर्ख व्यक्ति सुनकर तथा देखकर अनुभव प्राप्त करने पर भी तथा दण्डित होने पर भी चोरी करता रहता है। ऐसा व्यक्ति यदि प्रायश्चित्त भी करता है और सरकार द्वारा दण्डित भी होता है, तो भी वह कारागार से निकलते ही फिर से चोरी करेगा। यदि कारागार के दण्ड को प्रायश्चित्त माना जाये, तो ऐसे प्रायश्चित्त से क्या लाभ? अत: परीक्षित महाराज ने पूछा :

दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम् ।
करोति भूयो विवश: प्रायश्चित्तमथो कथम्॥
क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात् क्वचिच्चरति तत्पुन: ।
प्रायश्चित्तमथोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत् ॥

उन्होंने प्रायश्चित्त की तुलना हाथी के स्नान से की है। हाथी भले ही नदी में भलीभाँति स्नान कर ले, किन्तु जैसा ही वह किनारे पर पहुँचता है, वह अपने पूरे शरीर पर धूल छिड़क लेता है। तो इस स्नान से क्या लाभ हुआ? इसी प्रकार अनेक आध्यात्मिक अनुशीलन करने वाले हरे कृष्ण महामन्त्र का जप (कीर्तन) करते हैं और साथ ही यह सोचकर अनेक निषिद्ध कर्म भी करते हैं कि उनके जप से उनके सारे पाप नष्ट हो जायेंगे। भगवन्नाम का कीर्तन करते समय जो दस प्रकार के अपराध किये जा सकते हैं, उनमें से एक अपराध है—*नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धि:*—अर्थात् हरे कृष्ण महामन्त्र के जप के बल पर पापकर्म करना। इसी प्रकार कुछ ईसाई अपने पापों को स्वीकार करने के लिए गिरजाघर जाते हैं। वे सोचते हैं कि पादरी के समक्ष अपने पापों को स्वीकार करके और कुछ तपस्या करके वे अपने सप्ताह भर के पापों के फल से मुक्त हो जायेंगे। ज्योंही शनिवार बीतता है और रविवार आता है, वे पुन: यह सोचकर पापकर्म करना आरम्भ कर देते हैं कि अगले शनिवार को उन्हें क्षमा दे दी जाएगी। परीक्षित महाराज, जो अपने समय के सर्वाधिक बुद्धिमान राजा थे, उन्होंने इस प्रकार के प्रायश्चित्त की

भर्त्सना की है। शुकदेव गोस्वामी, जो समान रूप से बुद्धिमान थे और जो महाराज परीक्षित के योग्य गुरु थे, उन्होंने राजा के प्रश्नों का उत्तर दिया और इसकी पुष्टि की कि प्रायश्चित्त के विषय में उनका कथन सही था। पापकर्म का निराकरण पुण्यकर्म से कभी नहीं किया जा सकता। अतएव असली प्रायश्चित्त तो हमारी सुप्त कृष्णभावना को जागृत करना है।

असली पश्चाताप तो वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति है और इसकी एक प्रामाणिक विधि होती है। जब कोई नियमित रूप से स्वच्छ रहने की प्रक्रिया का पालन करता है, तो वह बीमार नहीं पड़ता। मनुष्य जीवन कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार अपने मूल ज्ञान को पुनर्जागृत करने के निमित्त होता है। ऐसे नियमित जीवन को तपस्या कहा जाता है। कोई भी मनुष्य तप तथा ब्रह्मचर्य, मनो-निग्रह, इन्द्रियनिग्रह, दान, सत्य, शुद्धि तथा योगासन का अभ्यास करके धीरे-धीरे असली ज्ञान के स्तर पर या कृष्णभावनामृत के स्तर तक ऊपर उठ सकता है। किन्तु यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि उसे शुद्ध भक्त की संगति प्राप्त हो सके, तो वह सरलता से योग प्रक्रिया द्वारा मन को वश में करने के सभी अभ्यासों का अतिक्रमण केवल कृष्णभावनामृत के विधि-निषेधों का अनुसरण करके तथा प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु के निर्देशन में परमेश्वर की सेवा में संलग्न रहकर कर सकता है। कृष्णभावनामृत के विधि-निषेध इस प्रकार हैं—अवैध मैथुन से दूर रहना, मांसाहार न करना, नशा न करना तथा जुआ न खेलना। श्रील रूप गोस्वामी इसी सरल विधि की संस्तुति कर रहे हैं।

सर्वप्रथम मनुष्य को अपनी वाणी पर संयम रखना चाहिए। हममें से प्रत्येक व्यक्ति में बोलने की शक्ति है और जैसे ही हमें अवसर मिलता है, हम बोलने लगते हैं। यदि हम कृष्णभावनामृत की बात नहीं करते हैं, तो केवल व्यर्थ की अनेक बातें करते रहते हैं। जिस तरह मेंढक खेत में टर्राता है, उसी तरह कोई भी व्यक्ति, जिसके पास जीभ है, वह बोलना चाहता है, भले ही उसे जो कहना है वह मूर्खतापूर्ण क्यों न हो। लेकिन मेंढक की टर्र-टर्र सर्प को आमन्त्रित करती है, "यहाँ आओ और मुझे खाओ।" यद्यपि यह मृत्यु को आमन्त्रण देना है, फिर भी मेंढक टर्राता रहता है। भौतिकतावादी पुरुषों एवं मायावादी दार्शनिकों के बोलने की तुलना मेंढकों की टर्राहट से की जा सकती है। ये सदैव व्यर्थ की बातें करते रहते हैं और अपने को पकड़ाने के लिए मृत्यु को आमन्त्रित करते रहते हैं। लेकिन वाणी के संयम का अर्थ अपने पर थोपी गई चुप्पी (मौन की बाह्य क्रिया) नहीं होता, जैसाकि मायावादी दार्शनिक सोचते हैं। ऐसा मौन कुछ समय तक सहायक प्रतीत हो सकता है, लेकिन अन्ततः वह विफल हो जाता है। श्रील रूप गोस्वामी जिस संयमित वाणी की बात करते हैं, उसका अर्थ कृष्णकथा की सकारात्मक विधि का समर्थन है अर्थात् बोलने की प्रक्रिया को परम भगवान् श्रीकृष्ण के गुणगान में लगाना। इस प्रकार जीभ भगवान् के नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं की महिमा का गान कर सकती है। कृष्णकथा का उपदेशक सदैव मृत्यु के चंगुल से दूर रहता है। वाणी के वेग को संयमित करने की यही महत्ता है।

मनोवेग या मन की अधीरता तभी वश में हो जाती है, जब कोई अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों में स्थित कर देता है। *चैतन्यचरितामृत* (मध्य २२.३१) में कहा गया है :

कृष्ण—सूर्यसम; माया हय अन्धकार ।
याहाँ कृष्ण, ताहाँ नाहि मायार अधिकार॥

कृष्ण सूर्य के समान हैं और माया अंधकार के तुल्य है। यदि सूर्य उपस्थित हो, तो अंधकार का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार यदि कृष्ण मन में उपस्थित हों, तो माया के प्रभाव से मन के विचलित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। समस्त भौतिक विचारों के निषेध की योग-विधि से कोई लाभ नहीं होगा। मन में शून्य की सृष्टि करने का प्रयास करना कृत्रिम विधि है। यह शून्य टिक नहीं सकता। किन्तु यदि कोई सदैव कृष्ण का तथा उनकी श्रेष्ठतम सेवा करने का चिन्तन करता है, तो उसका मन सहज ही वश में हो जाएगा।

इसी प्रकार क्रोध को वश में किया जा सकता है। हम क्रोध करना पूरी तरह तो बन्द नहीं कर सकते, लेकिन यदि हम उन्हीं पर क्रोध करें जो भगवान् या भगवद्भक्तों की निन्दा करते हैं, तो हम कृष्णभावनामृत में अपना क्रोध वश में करते हैं। भगवान् चैतन्य महाप्रभु जगाई तथा माधाइ नामक दो दुष्ट भाइयों पर क्रुद्ध हुए थे, जिन्होंने नित्यानन्द प्रभु की निन्दा की थी और उन्हें मारा था। अपने शिक्षाष्टक में भगवान् चैतन्य ने लिखा है—*तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना*—"मनुष्य को तृण से भी अधिक

विनम्र तथा वृक्ष से भी अधिक सहनशील होना चाहिए।" तब कोई पुछ सकता है कि महाप्रभु ने क्रोध क्यों किया? बात यह है कि मनुष्य को स्वयं का सभी तरह का अपमान सहने के लिए तैयार रहना चाहिए, लेकिन जब कोई कृष्ण या उनके शुद्ध भक्त की निन्दा करता है, तो असली भक्त क्रुद्ध होता है और अपराधियों पर अग्नि की तरह बरस पड़ता है। क्रोध को रोका नहीं जा सकता, लेकिन उसे सही ढंग से काम में लाया जा सकता है। हनुमान ने क्रोधवश ही लंका में आग लगा दी थी, फिर भी वे भगवान् रामचन्द्र के सबसे बड़े भक्त के रूप में पूजे जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने अपने क्रोध का सही उपयोग किया। अर्जुन इसके दूसरे उदाहरण हैं। वे युद्ध नहीं चाहते थे, लेकिन कृष्ण ने उनके क्रोध को यह कहकर उकसाया, "तुम्हें युद्ध करना होगा!" बिना क्रोध के युद्ध करना संभव नहीं है। किन्तु जब क्रोध का उपयोग भगवान् की सेवा में किया जाता है, तब वह वश में हो जाता है।

जहाँ तक जीभ के वेग का प्रश्न है, हम सभी अनुभव करते हैं कि जीभ सदा स्वादिष्ट व्यंजन चखना चाहती है। सामान्यतया हमें जीभ को उसका इच्छित भोजन नहीं करने देना चाहिए, लेकिन प्रसाद प्रदान करके उसे वश में करना चाहिए। भक्त का भाव तो यह होता है कि वह तभी खाएगा, जब कृष्ण उसे प्रसाद देंगे। जीभ के वेग को वश में करने का यही उपाय है। मनुष्य को चाहिए कि नियत समय पर प्रसाद ग्रहण करे और होटलों या मिठाई की दूकानों में मात्र अपनी जीभ या पेट की इच्छापूर्ति

के लिए भोजन न करे। यदि हम केवल प्रसाद ग्रहण करने के नियम पर टिके रहें, तो उदर तथा जीभ के वेग हमारे वश में हो सकते हैं।

इसी प्रकार जननेन्द्रियों के वेग या कामवासना के वेग भी उन्हें अनावश्यक रूप से प्रयोग में न लाकर वश में किये जा सकते हैं। जननेन्द्रियों का उपयोग कृष्णभावनाभावित सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही किया जाना चाहिए, अन्यथा उनका प्रयोग न किया जाये। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में विवाह को इसलिए प्रोत्साहन नहीं दिया जाता कि कामेन्द्रियों की तृप्ति हो, अपितु कृष्णभावनाभावित सन्तान उत्पन्न करने के लिए दिया जाता है। ज्योंही बच्चे थोड़े बड़े हो जाते हैं, उन्हें डल्लास, टेक्सास के गुरुकुल में भेज दिया जाता है, जहाँ उन्हें पूर्णतया कृष्णभावनाभावित भक्त बनने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। ऐसे अनेक कृष्णभावनाभावित बच्चों की आवश्यकता है और जो इस प्रकार की सन्तान उत्पन्न करने में सक्षम होता है, उसे जननेन्द्रियों का उपभोग करने दिया जाता है।

जब कोई कृष्णभावनाभावित संयम की विधियों का पूरी तरह अभ्यास कर लेता है, तब वह प्रामाणिक गुरु बनने के लिए योग्य हो सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने *उपदेशामृत* की अपनी *अनुवृत्ति* व्याख्या में लिखा है कि हमारी देहात्मबुद्धि से तीन प्रकार के वेग उत्पन्न होते हैं—बोलने का वेग, मन का वेग तथा शरीर के वेग। जब जीव इन तीन वेगों का शिकार बनता है, तो

उसका जीवन अशुभ बन जाता है। जो व्यक्ति इन वेगों का दमन करने का अभ्यास करता है, वह तपस्वी कहलाता है। ऐसी तपस्या से वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की बहिरंगा शक्ति या भौतिक शक्ति के उत्पीड़न को वश में कर सकता है।

जब हम वाणी के वेग की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय व्यर्थ की बातों से होता है—यथा निर्विशेष मायावादी दार्शनिकों की बातें या सकाम कर्म (कर्मकाण्ड) में लगे हुए व्यक्तियों की बातें, या उन भौतिकतावादी व्यक्तियों की बातें, जो बिना रोकटोक के जीवन का भोग करना चाहते हैं। ऐसी समस्त बातें या साहित्य वाणी के वेग के व्यावहारिक प्रदर्शन हैं। अनेक लोग व्यर्थ की बातें करते रहते हैं और व्यर्थ की पुस्तकें लिखते रहते हैं। ये सब वाणी के वेग का परिणाम है। इस प्रवृत्ति को निष्क्रिय करने के लिए हमें अपनी बातों को कृष्णकथा की ओर मोड़ना होगा। *श्रीमदभागवत* (१.५.१०-११) में इसकी व्याख्या की गई है :

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्षयाः॥

"जो शब्द उन भगवान का यशोगान नहीं करते, जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड के वायुमण्डल को अकेले ही पवित्र करने वाले हैं, वे साधु पुरुषों द्वारा कौवों के तीर्थस्थल जैसे माने जाते हैं। चूँकि

सर्वपूर्ण व्यक्ति दिव्य धाम के निवासी होते हैं, अतएव उन्हें वहाँ कोई आनन्द प्राप्त नहीं होता।"

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥

"इसके विपरीत वह साहित्य जो अनन्त परमेश्वर के नाम, यश, रूप, लीलाओं आदि की दिव्य महिमाओं के वर्णन से ओतप्रेत होता है, वह एक भिन्न सृष्टि होती है, जो ऐसे दिव्य शब्दों से पूर्ण होती है जिनसे इस जगत् की भ्रान्त सभ्यता के अपवित्र जीवन में क्रान्ति लायी जा सकती है। ऐसा दिव्य साहित्य भले ही अपूर्ण रूप से रचा गया हो, वह उन शुद्ध व्यक्तियों द्वारा सुना, गाया तथा स्वीकार किया जाता है, जो पूर्णतया निष्कपट हैं।"

निष्कर्ष यह निकलता है कि जब हम केवल पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर की भक्तिमय सेवा के विषय में बातें करते हैं, तभी हम व्यर्थ की मूर्खतापूर्ण बातों से अलग रह सकते हैं। हमें चाहिए कि कृष्णभावनामृत की अनुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से ही अपनी वाग्शक्ति का प्रयोग करें।

जहाँ तक चंचल मन के विक्षोभों का प्रश्न है, वे दो प्रकार के होते हैं—पहला *अविरोध-प्रीति* कहलाता है जिसका अर्थ है, अनियंत्रित आसक्ति और दूसरा *विरोधयुक्त-क्रोध* कहलाता है, जिसका अर्थ है, हताशा से उत्पन्न हुआ क्रोध। मायावादियों के

दर्शन में श्रद्धा, कर्मवादियों के कर्मफलों में विश्वास तथा भौतिकतावादी इच्छाओं पर आधारित योजनाओं में विश्वास को *अविरोध-प्रीति* कहते हैं। सामान्यतः ज्ञानी, कर्मी तथा भौतिकतावादी योजना-निर्माता बद्धजीवों का ध्यान आकृष्ट करते हैं, लेकिन जब भौतिकतावादियों की योजनाएँ पूर्ण नहीं होतीं और उनकी युक्तियाँ विफल हो जाती हैं, तो वे क्रुद्ध हो उठते हैं। भौतिक इच्छाओं की विफलता क्रोध को जन्म देती है।

इसी प्रकार शरीर की आवश्यकताएँ तीन श्रेणियों में बाँटी जा सकती हैं—जीभ, उदर तथा जननेंन्द्रियों की आवश्यकताएँ। जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, यह देखा जा सकता है कि ये तीनों इन्द्रियाँ प्राकृतिक रूप से एक हि सीधी रेखा में स्थित होती हैं और शारीरिक आवश्यकताओं का प्रारम्भ जीभ से होता है। यदि हम जीभ की आवश्यकताओं को केवल प्रसाद खाने की क्रिया तक सीमित कर दें, तो उदर तथा जननेंन्द्रियों की आवश्यकताएँ (वेग) स्वतः नियन्त्रित हो जाएँगी। इस के सम्बन्ध में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं :

शरीर अविद्या जाल, जड़ेन्द्रिय ताहे काल,
जीवे फेले विषय सागरे
ताऽर मध्ये जिह्वा अति, लोभमय सुदुर्मति,
ताऽके जेता कठिन संसारे
कृष्ण बड़ दयामय, करिबारे जिह्वा जय,
स्व-प्रसाद अन्न दिल भाई

सेई अन्नामृत खाओ, राधा-कृष्ण-गुण गाओ,
प्रेम डाक चैतन्य-निताई

"हे भगवन्! यह भौतिक शरीर अज्ञान का पिंड है और सारी इन्द्रियाँ मृत्यु की ओर ले जाने वाली पगडंडियों की जाल हैं। हम न जाने कैसे भौतिक इन्द्रियभोग के सागर में गिर गये हैं और समस्त इन्द्रियों में से जीभ अति भुख्खड़ तथा दुर्दम है। इस संसार में जीभ को जीत पाना अत्यन्त कठिन है, लेकिन हे कृष्ण! आप हम पर बड़े कृपालु हैं। आपने हमें जीभ को जीतने में सहायता करने के लिए यह उत्तम प्रसाद भेजा है, अतएव हम भर-पेट यह प्रसाद लें और श्रीराधा तथा कृष्ण का गुणगान करें और सहायता के लिए महाप्रभु चैतन्य तथा प्रभु नित्यानन्द का प्रेम से आवाहन करें।"

रस (स्वाद) छः प्रकार के होते हैं और यदि कोई इनमें से किसी एक के द्वारा विचलित होता है, तो वह जीभ के वेग से नियन्त्रित हो जाता है। कुछ लोग मांस, मछली, केकड़े, अंडे तथा वीर्य और रक्त से उत्पन्न तथा मृत शरीर के रूप में खाई जाने वाली अन्य वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होते हैं। अन्य लोग तरकारी, सब्जी, पालक या दूध के उत्पादों को खाने के प्रति आकृष्ट होते हैं। लेकिन यह सब जीभ के वेग की तुष्टि के लिए किया जाता है। इन्द्रियों की तृप्ति के लिए ऐसा भोजन करना, जिसमें मिर्च तथा इमली जैसे मसाले की अत्यधिक मात्रा मिली रहती है, कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों के लिए त्याज्य है। पान, हरितकी,

सुपारी तथा पान-मसाला, तम्बाकू, एल.एस.डी., गाँजा, अफीम, शराब, कॉफी तथा चाय का प्रयोग अवैध वेगों की पूर्ति के लिए किया जाता है। यदि हम कृष्ण को अर्पित किये गये भोजन के उच्छिष्ट को ही स्वीकार करने का अभ्यास करें, तो माया के उत्पीड़न से बच सकते हैं। तरकारियाँ, अन्न, फल, दुग्ध-उत्पाद तथा जल भगवान् को अर्पित किये जाने के लिए समुचित भोज्य पदार्थ हैं, जैसाकि भगवान् ने स्वयं संस्तुति की है। किन्तु यदि कोई स्वादिष्ट होने के कारण ही प्रसाद ग्रहण करता है और इसकी अधिक मात्रा खाता है, तो वह भी जीभ के वेग को तुष्ट करने का शिकार बनता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने हमें शिक्षा दी है कि प्रसाद खाते समय भी अत्यन्त स्वादिष्ट व्यंजनो से बचना चाहिए। यदि हम ऐसा उत्तम भोजन खाने के मनोभाव से अर्चाविग्रह को स्वादिष्ट व्यंजन अर्पित करते हैं, तो हम जीभ की आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयास में फँस जाते हैं। यदि हम किसी धनी व्यक्ति का आमन्त्रण इस विचार से स्वीकार करते हैं कि वहाँ स्वादिष्ट भोजन करने को मिलेगा, तो भी हम जीभ की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करते हैं। *चैतन्यचरितामृत* (अन्त्य ६.२२७) में कहा गया है :

जिह्वार लालसे येइ इति-उति धाय ।
शिश्नोदर-परायण कृष्ण नाहि पाय॥

"जो व्यक्ति अपने स्वाद की तृप्ति के लिए इधर-उधर दौड़ता रहता है और जो अपने उदर तथा जननेन्द्रियों की इच्छाओं में

सदैव आसक्त रहता है, वह कृष्ण को पाने में अक्षम रहता है।"

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, जीभ, उदर तथा जननेन्द्रियाँ एक ही सीधी रेखा में स्थित हैं और वे एक ही कोटि में आते हैं। भगवान् चैतन्य ने कहा है—*भाल ना खाइबे आर भाल ना परिबे*—न तो विलासपूर्ण वस्त्र धारण करें, न ही स्वादिष्ट भोजन करें। (*चैतन्यचरितामृत* अन्त्य ६.२३६)

जो लोग उदर रोग से पीड़ित हैं, वे उदर के वेगों को वश में लाने में जरूर असमर्थ रहे होंगे—कम से कम इस विश्लेषण से तो यही लगता है। जब हम आवश्यकता से अधिक खाना चाहते हैं, तो हम जीवन में स्वत: अनेक असुविधाओं को जन्म देते हैं। किन्तु यदि हम एकादशी तथा जन्माष्टमी जैसे दिनों में उपवास रखें, तो हम उदर की आवश्यकताओं पर अंकुश लगा सकते हैं।

जहाँ तक जननेन्द्रियों के वेगों का सम्बन्ध है, वे दो तरह के हैं—उचित तथा अनुचित अथवा वैध और अवैध समागम। जब मनुष्य ठीक से सयाना हो जाए, तो वह शास्त्रों के विधि-विधानों के अनुसार विवाह कर सकता है और अपनी जननेन्द्रियों का उपयोग उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिए कर सकता है। यह वैध तथा धार्मिक है। अन्यथा वह किसी प्रकार के नियन्त्रण के बिना अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए अनेक कृत्रिम साधनों का प्रयोग करता रहेगा। जब कोई अवैध विषयी जीवन में, जैसी कि शास्त्रों में इसकी परिभाषा दी गई है—उसके विषय में चिन्तन, योजना बनाना, चर्चा करना या वास्तविक संभोग करना या कृत्रिम साधनों से कामतृप्ति में लिप्त होता है, तो वह माया

के जाल में फँस जाता है। ये आदेश न केवल गृहस्थों पर लागू होते हैं, अपितु त्यागियों या जिन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया है, उनके लिए भी हैं। श्री जगदानन्द पण्डित ने अपनी पुस्तक *प्रेम-विवर्त* के सातवें अध्याय में लिखा है :

वैरागी भाइ ग्राम्यकथा ना शुनिबे काने।
ग्राम्यवार्ता ना कहिबे यबे मिलिबे आने॥
स्वपने ओ ना कर भाइ स्त्री-सम्भाषण।
गृहे स्त्री छाड़िया भाइ आसियाछ वन॥
यदि चाह प्रणय राखिते गौराङ्गेर सने।
छोट हरिदासेर कथा थाके येन मने॥
भाल ना खाइबे आर भाल ना परिबे।
हृदयेते राधा-कृष्ण सर्वदा सेविबे॥

"प्रिय भाई! तुम संन्यासी हो, तुम्हें सामान्य संसारी बातें नहीं सुननी चाहिए और न ही जब किसी अन्य से मिलो, तो संसारी बातों के विषय में चर्चा करनी चाहिए। स्त्रियों के विषय में तो स्वप्न में भी विचार मत करो। तुमने जिस व्रत के साथ संन्यास लिया है, वह स्त्रियों की संगति करने से तुम्हें रोकता है। यदि तुम चैतन्य महाप्रभु का सान्निध्य चाहते हो, तो तुम्हें छोटे हरिदास की घटना सदैव स्मरण में रखनी चाहिए कि किस तरह महाप्रभु ने उसका परित्याग किया था। न तो विलासी भोजन करो, न सुन्दर वस्त्र पहनो, लेकिन सदैव विनीत बने रहो और अपने अन्तरतम में श्री श्रीराधा-कृष्ण की सेवा करते रहो।"

निष्कर्ष यह है कि जो कोई वाणी, मन, क्रोध, जीभ, उदर तथा जननेन्द्रियाँ—इन छहों को वश में कर सकता है, उसे *स्वामी* या *गोस्वामी* कहा जा सकता है। *स्वामी* का अर्थ है मालिक तथा *गोस्वामी* का अर्थ है *गो* अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी। जब कोई संन्यास ग्रहण करता है, तो वह स्वत: *स्वामी* की उपाधि धारण कर लेता है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह अपने परिवार, जाति या समाज का स्वामी है, अपितु उसे अपनी इन्द्रियों का स्वामी होना चाहिए। जब तक कोई अपनी इन्द्रियों का स्वामी न हो ले, तब तक उसे गोस्वामी नहीं कहना चाहिए, अपितु उसे *गोदास* अर्थात् इन्द्रियों का दास कहना चाहिए। वृन्दावन के छ: गोस्वामियों के पदचिह्नों पर चलकर समस्त स्वामियों तथा गोस्वामियों को भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में लग जाना चाहिए। इसके विपरीत जो *गोदास* हैं, वे इन्द्रियों की सेवा में या भौतिक जगत की सेवा में लगे रहते हैं—उनके पास कोई अन्य कार्य नहीं रहता। प्रह्लाद महाराज ने *गोदास* का और अधिक वर्णन *अदान्त-गो* के रूप में किया है, जो ऐसे व्यक्ति का सूचक है, जिसकी इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं। ऐसा *अदान्त-गो* कृष्ण का दास नहीं बन सकता। *श्रीमद्भागवत* (७.५.३०) में प्रह्लाद महाराज ने कहा है :

मतिर्न कृष्णे परत: स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुन: पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥

"जिन लोगों ने अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए इस भौतिक जगत में अपना अस्तित्व बनाये रखने का निश्चय कर लिया है, उनके लिए न तो निजी प्रयास से, न अन्यों के उपदेश से, न ही सभाओं से कृष्णभावनाभावित होने की कोई सम्भावना है। वे बिना लगाम वाली इन्द्रियों के द्वारा अज्ञान के गहन क्षेत्र में खींचे जाते हैं और इस प्रकार वे एक बार चबाये हुये को पुन: पुन: चबाने में उन्मत्त होकर लगे रहते हैं।" •

श्लोक २

अत्याहार: प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रह:।
जनसङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति॥ २॥

अति-आहार:—अधिक भोजन करना या अत्यधिक संग्रह करना; **प्रयास:**—अत्यधिक उद्यम; **च**—तथा; **प्रजल्प:**—व्यर्थ की बातें करना; **नियम**—विधि-विधान; **आग्रह:**—अत्यधिक आसक्ति (या *अग्रह:*—अत्यधिक उपेक्षा); **जन-सङ्ग:**—सांसारिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों की संगति; **च**—तथा; **लौल्यम्**—अत्यधिक अभिलाषा या लालच; **च**—तथा; **षड्भि:**—इन छह के द्वारा; **भक्ति:**—भक्तिमय सेवा; **विनश्यति**—नष्ट हो जाती है।

अनुवाद

जब कोई निम्नलिखित छह क्रियाओं में अत्यधिक लिप्त

हो जाता है, तो उसकी भक्ति विनष्ट हो जाती है : (१) आवश्यकता से अधिक खाना या आवश्यकता से अधिक धन-संग्रह करना। (२) उन सांसारिक वस्तुओं के लिए अत्यधिक उद्यम करना, जिनको प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। (३) सांसारिक विषयों के बारे में अनावश्यक बातें करना। (४) शास्त्रीय विधि-विधानों का आध्यात्मिक उन्नति के लिए नहीं अपितु केवल नाम के लिए अभ्यास करना या शास्त्रों के विधि-विधानों को त्याग कर स्वतन्त्रतापूर्वक या मनमाना कार्य करना। (५) ऐसे सांसारिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों की संगति करना जो कृष्णभावनामृत में रुचि नहीं रखते, तथा (६) सांसारिक उपलब्धियों के लिए लालयित रहना।

तात्पर्य

मनुष्य जीवन सादा जीवन तथा उच्च विचार के लिए है। चूँकि सारे बद्धजीव भगवान् की तीसरी शक्ति के वश में हैं, अतएव यह भौतिक संसार इस तरह बनाया गया है कि जीव को कार्य करने के लिए बाध्य होना पड़े। भगवान् की तीन मूल शक्तियाँ हैं—पहली शक्ति अन्तरंगा शक्ति कहलाती है; दूसरी तटस्था शक्ति है और तीसरी बहिरंगा शक्ति है। सारे जीव तटस्था शक्ति के अन्तर्गत हैं और वे अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों के मध्य स्थित होते हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के नित्य दास के रूप में अधीन होने के कारण जीवात्माओं अर्थात् सुक्ष्म जीवों को या

तो अन्तरंगा शक्ति के वश में या बहिरंगा शक्ति के वश में रहना होता है। जब वे अन्तरंगा शक्ति के वश में होते हैं, तब वे अपनी प्राकृतिक वैधानिक सक्रियता प्रदर्शित करते हैं—अर्थात् भगवान् की भक्तिमय सेवा में निरन्तर व्यस्तता प्रदर्शित करते हैं। इसे *भगवद्गीता* (९.१३) में बताया गया है :

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

"हे पृथापुत्र, जो मोहग्रस्त नहीं हैं, ऐसे महात्मा दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतया भक्तिमय सेवा में संलग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में आदि तथा अव्यय मानते हैं।"

महात्मा शब्द उनको सूचित करता है, जो विशाल हृदय वाले हैं, न कि संकुचित हृदय वालों को। सदैव अपनी इन्द्रियों की तृप्ति में लगे रहने वाले संकुचित हृदय वाले व्यक्ति कभी-कभी अपने कार्यों का विस्तार इसलिए कर लेते हैं कि वे राष्ट्रवाद, मानवतावाद या परोपकारवाद जैसे किसी 'वाद' के माध्यम से अन्यों की भलाई कर सकें। वे अन्यों की इन्द्रियतृप्ति के लिए अपनी खुद की इन्द्रियतृप्ति का परित्याग कर सकते हैं, जैसे कि अपने परिवार, जाति या समाज के सदस्यों के लिए—और वह भी राष्ट्रीय या तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर। वास्तव में यह सब विस्तीर्ण इन्द्रियतृप्ति ही है, जो व्यक्तिगत से जातिगत और जातिगत से समाजगत हो सकती है। यह सब भौतिक दृष्टि से भले ही बहुत

अच्छा लगे, लेकिन ऐसे कार्यों का कोई आध्यात्मिक महत्त्व नहीं होता। ऐसे कार्य का आधार इन्द्रियतृप्ति है, चाहे वह व्यक्तिगत हो या विस्तीर्ण। जब मनुष्य परम भगवान् की इन्द्रियों को सन्तुष्ट करता है, केवल तभी उसे महात्मा अर्थात् विशाल हृदय वाला व्यक्ति कहा जा सकता है।

भगवद्गीता से उद्धृत उपर्युक्त श्लोक में *दैवीं प्रकृतिम्* शब्द पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अन्तरंगा शक्ति या ह्लादिनी शक्ति के नियन्त्रण को बताते हैं। यह ह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधाराणी के रूप में या उनके अंश लक्ष्मी के रूप में प्रकट होती है। जब व्यक्तिगत जीवात्मा अन्तरंगा शक्ति के नियंत्रण में होते हैं, तो उनका एकमात्र कार्य कृष्ण या विष्णु की तुष्टि होता है। यही महात्मा की स्थिति है। यदि कोई महात्मा नहीं होता, तो वह *दुरात्मा* या संकुचित हृदय वाला व्यक्ति होता है। ऐसे मानसिक रूप से पंगु दुरात्माओं को भगवान् की बहिरंगा शक्ति महामाया के नियन्त्रण में रखा जाता है।

निस्संदेह, इस भौतिक जगत के सारे जीव महामाया के वश में हैं, जिसका कार्य उन्हें त्रिविध तापों के अधीन रखना है। ये ताप हैं—*अधिदैविक क्लेश* (देवताओं के द्वारा उत्पन्न किया गया क्लेश यथा सूखा, भूचाल तथा तूफान), *अधिभौतिक क्लेश* (अन्य जीवों द्वारा उत्पन्न क्लेश यथा कीड़ों या शत्रुओं द्वारा उत्पन्न क्लेश) तथा *आध्यात्मिक क्लेश* (अपने शरीर तथा मन द्वारा उत्पन्न क्लेश यथा मानसिक तथा शारीरिक अस्थिरता)। *दैवभूतात्महेतवः*—बहिरंगा शक्ति के नियन्त्रण द्वारा इन तीनों

क्लेशों से पीड़ित बद्धजीव अनेक कठिनाइयाँ उठाते हैं।

बद्धजीवों के समक्ष मुख्य समस्या है बारम्बार जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु का होना। भौतिक जगत में मनुष्य को शरीर तथा आत्मा के पालन हेतु कार्य करना होता है, लेकिन वह ऐसे कार्य को किस तरह करे, जिससे वह कृष्णभावनामृत सम्पन्न करने के लिए अनुकूल रहे? हर व्यक्ति को अन्न, वस्त्र, धन तथा शरीर के पालन हेतु अन्य जरूरी वस्तुओं की आवश्यकता होती है, लेकिन उसे अपनी वास्तविक मूल आवश्यकता से अधिक संग्रह नहीं करना चाहिए। यदि इस प्राकृतिक नियम का पालन किया जाये, तो शरीर के पालन में कोई कठिनाई नहीं होगी।

प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार विकास की सीढ़ी में निम्न स्थान पर स्थित जीव न तो आवश्यकता से अधिक खाते हैं, न संग्रह करते हैं। फलतः पशु जगत में सामान्यतया न कोई आर्थिक समस्या उठती है, न आवश्यक वस्तुओं का अभाव रहता है। यदि किसी सार्वजनिक स्थान पर एक बोरा चावल रख दिया जाये, तो चिड़ियाँ आकर कुछ दाने चुगेगीं और चली जाएँगी। लेकिन मनुष्य तो पूरा बोरा उठा ले जाएगा। उसके पेट में जितना आएगा, उतना वह खाएगा और जो बचेगा उसे भण्डार में रख देगा। शास्त्रों के अनुसार इस प्रकार से अधिक का संग्रह (*अत्याहार*) वर्जित है। इस समय सारा विश्व इसी के कारण कष्ट उठा रहा है।

आवश्यकता से अधिक संग्रह करने और खाने से *प्रयास* अर्थात् अनावश्यक उद्यम का जन्म होता है। ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार विश्व के किसी भी भाग का कोई भी व्यक्ति

शान्तिपूर्वक रह सकता है, यदि उसके पास कुछ भूमि और एक दुधारू गाय हो। उसे जीविका कमाने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि वह वहीं पर अन्न पैदा कर सकता है और गाय से दूध पा सकता है। इससे सारी आर्थिक समस्याएँ हल हो सकती हैं। सौभाग्यवश मनुष्य को कृष्णभावनामृत के अनुशीलन अथवा ईश्वर को समझने तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध तथा जीवन के चरम उद्देश्य ईश-प्रेम को समझने के जिए उच्चतर बुद्धि प्रदान की गई है। दुर्भाग्यवश तथाकथित सभ्य मनुष्य, ईश्वर की अनुभूति की परवाह न करते हुए, अपनी आवश्यकता से अधिक प्राप्त करने तथा केवल जीभ को तुष्ट करने के लिए भोजन-प्राप्ति के लिए बुद्धि का प्रयोग करता है। ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार सारे संसार में मनुष्यों के लिए दूध तथा अन्न के उत्पादन हेतु पर्याप्त गुंजाइश है, लेकिन तथाकथित बुद्धिमान मनुष्य अपनी उच्चतर बुद्धि को भगवद्भावना के अनुशीलन में न प्रयुक्त करके, अपनी बुद्धि का दुरुपयोग अनेक अनावश्यक तथा अनिच्छित वस्तुओं के उत्पादन में करता है। इस प्रकार फैक्टरियाँ, कसाईघर, वेश्यालय तथा मदिरालय खोले जाते हैं। यदि लोगों को अधिक सामान एकत्र न करने, अधिक न खाने या कृत्रिम सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए अनावश्यक प्रयास न करने के लिए परामर्श दिया जाता है, तो वे सोचते हैं कि उन्हें आदिम जीवन शैली की ओर लौटाया जा रहा है। सामान्यतया लोग 'सादा जीवन और उच्च विचार' को स्वीकार नहीं करते। यही उनका दुर्भाग्य है।

कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के संस्थापकाचार्य एवं
संपूर्ण विश्व में वैदिक ज्ञान के अद्वितीय प्रचारक

श्री उपदेशामृत तथा अन्य अनेक वैष्णव ग्रन्थों के लेखक श्रील रूप गोस्वामी। वे श्रीकृष्ण चैतन्य के साहित्यिक कार्य करने वाले प्रमुख विद्वान शिष्य थे और वे उस शक्तिशाली संकीर्तन आन्दोलन के अग्रणी पथ प्रदर्शक थे, जो भारतवर्ष में पाँचसौ साल पहले शुरू हुआ था।

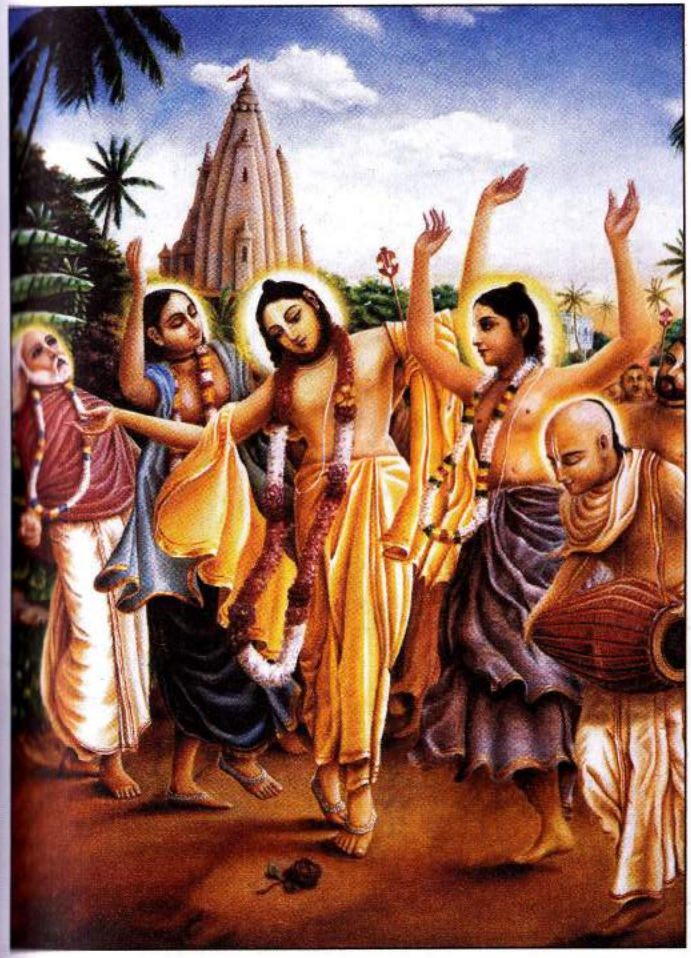

भगवान् चैतन्य महाप्रभु तथा उनके अन्तरंग पार्षद द्वारा किया जाने वाला संकीर्तन। बायें से दायें हैं—श्री श्रीवास, भगवान् नित्यानन्द, भगवान् चैतन्य, श्री गदाधर तथा श्री अद्वैत आचार्य।

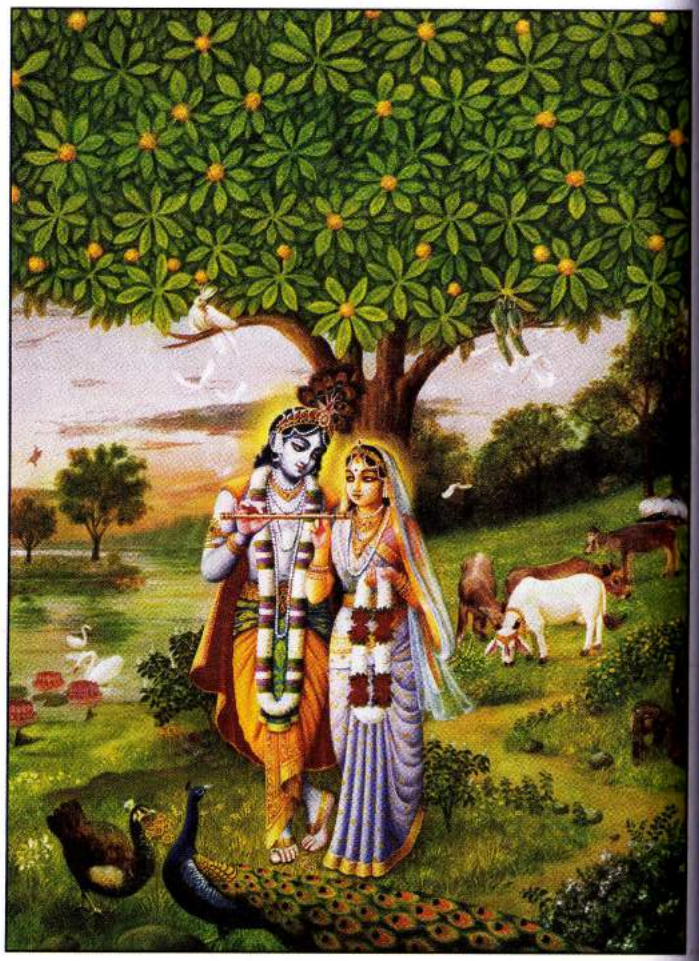

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्री कृष्ण और उनकी अन्तरंगा शक्ति श्रीमती राधारानी।

मनुष्य जीवन ईश्वर-साक्षात्कार के लिए मिला है और मनुष्य को उच्चतर बुद्धि इसी प्रयोजन के लिए प्रदान की गई है। अत: जो लोग यह विश्वास करते हैं कि यह उच्चतर बुद्धि उच्चतर अवस्था प्राप्त करने के लिए है, उन्हें वैदिक ग्रंथो के आदेशों का पालन करना चाहिए। उच्चतर अधिकारियों से ऐसे आदेश ग्रहण करके मनुष्य पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है और जीवन को सार्थक बना सकता है।

श्रीमद्भागवत (१.२.९) में श्री सूत गोस्वामी उचित मानव धर्म का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृत: ॥

"सारे धर्म निश्चित रूप से चरम मुक्ति के लिए हैं। उनका उपयोग कभी भी भौतिक लाभ के लिए नहीं करना चाहिए। साथ ही, जो चरम धर्म के पालन में लगा हुआ है, उसे भौतिक लाभ का उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए कभी नहीं करना चाहिए।"

मानव सभ्यता का प्रथम चरण है, शास्त्रों के आदेशानुसार धर्म का आचरण। मनुष्य की उच्चतर बुद्धि को मूलभूत धर्म समझाने के लिए प्रशिक्षित करनी चाहिए। मानव समाज में अनेक धार्मिक धारणाएँ हैं जो हिन्दु, ईसाई, हिब्रू, मुसलमान, बौद्ध इत्यादि नामों से वर्गीकृत होती हैं, क्योंकि धर्म के बिना मानव-समाज पशु-समाज से बेहतर नहीं है।

जैसाकि ऊपर कहा गया है (*धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य*

नार्थोऽर्थायोपकल्पते) धर्म तो उत्थान के लिए है, रोटी पाने के लिए नहीं है। कभी-कभी मानव-समाज तथाकथित धर्म की पद्धति का निर्माण कर लेता है, जिसका उद्देश्य भौतिक उत्थान होता है, लेकिन यह वास्तविक धर्म के उद्देश्य से बहुत दूर है। धर्म ईश्वर के नियमों का बोध कराता है क्योंकि इन नियमों को सही ढंग से सम्पन्न करने पर मनुष्य भवबन्धन से छूटने की दिशा में अग्रसर होता है। यही धर्म का असली प्रयोजन है। दुर्भाग्यवश लोग *अत्याहार* के वशीभूत होकर धर्म को भौतिक सम्पन्नता के लिए स्वीकार करते हैं। लेकिन असली धर्म लोगों को कृष्णभावनामृत का अनुशीलन कराते हुए जीवन की कम से कम आवश्यकताओं से तुष्ट होना सिखाता है। भले ही हमें आर्थिक विकास की आवश्यकता हो, असली धर्म तो भौतिक अस्तित्व बनाये रखने के लिए कम से कम आवश्यकताओं को प्रदान करने मात्र की अनुमति देता है। *जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा*—जीवन का असली उद्देश्य परम सत्य के विषय में जिज्ञासा करना है। यदि हमारा प्रयास परम सत्य के विषय में जिज्ञासा करना नहीं होगा, तो हम अपनी कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में वृद्धि ही करेंगे। आध्यात्मिक साधक को संसारी प्रयास से बचना चाहिए।

दूसरा अवरोध *प्रजल्प* या व्यर्थ बोलना है। जब हम अपने कुछ मित्रों से मिलते हैं, तो हम टर्र-टर्र करने वाले मेंढ़कों की तरह तुरन्त व्यर्थ की बातें करना शुरु कर देते हैं। यदि हमें बातें करनी ही हैं, तो हमें कृष्णभावनामृत आन्दोलन के विषय में बातें

करनी चाहिए। जो लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन से बाहर हैं, वे ढेरों समाचारपत्र, पत्रिकाएँ तथा उपन्यास पढ़ने, पहेली सुलझाने तथा अन्य अनेक व्यर्थ के कार्य करने में रुचि दिखाते हैं। इस प्रकार लोग अपना अमूल्य समय तथा शक्ति व्यर्थ ही गँवाते हैं। पाश्चात्य देशों में वृद्ध लोग सक्रिय जीवन से अवकाश प्राप्त करने पर ताश खेलते हैं, मछली पकड़ते हैं, टेलीविजन देखते हैं और व्यर्थ की सामाजिक-राजनैतिक योजनाओं पर बहस करते रहते हैं। प्रजल्प के अन्तर्गत ये सभी तथा अन्य तुच्छ कार्यकलाप सम्मिलित हैं। जिसकी रुचि कृष्णभावनामृत में है, ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति को ऐसे कार्यों में कभी कोई भाग नहीं लेना चाहिए।

जनसङ्ग का अर्थ हैं, कृष्णभावनामृत में रुचि न रखने वाले व्यक्तियों की संगति करना। मनुष्य को चाहिए कि ऐसी संगति से सर्वथा दूर रहे। अतएव श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने हमें केवल कृष्णभावनाभावित भक्तों की संगति में (*भक्त सने वास*) रहने का परामर्श दिया है। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवद्भक्तों की संगति में रहकर सदैव कृष्ण की सेवा में संलग्न रहे। समान व्यापार में संलग्न व्यक्तियों की संगति व्यापार में उन्नति के लिए लाभप्रद होती है। फलस्वरूप भौतिकतावादी लोग अपने प्रयासों को बढ़ाने के लिए तरह-तरह के संगठन तथा क्लब बनाते हैं। उदाहरणार्थ, व्यापार-जगत में स्टॉक एक्सचेंज और चेम्बर ऑफ कॉमर्स जैसी संस्थाएँ पाई जाती हैं। इसी प्रकार हमने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ स्थापित किया है, जो लोगों को अवसर प्रदान करता है कि वे उन लोगों की संगति करें जो कृष्ण को

भूले नहीं हैं। हमारे इस्कॉन आन्दोलन द्वारा प्रदत्त यह आध्यात्मिक सान्निध्य दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। विश्व के विभिन्न भागों से अनेक लोग अपनी सुप्त कृष्णचेतना को जगाने के लिए इस संघ में सम्मिलित हो रहे हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर अपनी *अनुवृत्ति* टीका में लिखते हैं कि मानसिक तार्किकों या शुष्क चिन्तकों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए किया गया अत्यधिक प्रयास अत्याहार (आवश्यकता से अधिक संग्रह) के अन्तर्गत आता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार दार्शनिक चिन्तकों (ज्ञानियों) द्वारा कृष्णभावनामृत से विहीन शुष्क दर्शन पर पोथे के पोथे लिखने के प्रयास पूर्णतया व्यर्थ हैं। आर्थिक विकास पर अनेक किताबें लिखने वाले कर्मियों का कर्म भी अत्याहार की कोटि में आता है। इसी तरह जिन्हें कृष्णभावनामृत की कोई इच्छा नहीं है और जो अधिकाधिक वस्तुओं को पाने मात्र के लिए इच्छुक रहते हैं—चाहे वह वैज्ञानिक ज्ञान के रूप में हो या धन का लाभ हो—वे सब अत्याहार के क्षेत्र में आते हैं।

कर्मीजन भावी पीढ़ियों के लिए अधिकाधिक धन संचित करने के लिए श्रम करते हैं, क्योंकि वे अपने भविष्य की स्थिति को नहीं जानते। ऐसे मूर्ख व्यक्ति अपने पुत्रों तथा पौत्रों के लिए अधिकाधिक धन प्राप्त करने में रुचि रखने के कारण यह भी नहीं जान पाते कि अगले जीवन में उनकी स्थिति क्या होगी। इस बात पर प्रकाश डालने वाली अनेक घटनाएँ हैं। एक बार एक कर्मी ने अपने पुत्रों तथा पौत्रों के लिए प्रचुर सम्पत्ति एकत्र कर ली,

लेकिन आगे चलकर अपने कर्म के अनुसार उसे एक मोची के घर में जन्म लेना पड़ा, जो उस इमारत के पास स्थित था जिसे उसने अपने पूर्वजन्म में अपने लड़कों के लिए बनवाया था। ऐसा संयोग हुआ कि जब यह मोची अपने पहले वाले मकान में आया, तो उसके पहले वाले पुत्रों तथा पौत्रों ने उसे जूतों से पीटा। जब तक कर्मी तथा ज्ञानी कृष्णभावनामृत में रुचि नहीं लेते, तब तक वे व्यर्थ के कार्यों में अपना जीवन बिताते रहेंगे।

तुरन्त लाभ के लिए शास्त्रों के कुछ विधि-विधानों को स्वीकार करना *नियम-आग्रह* कहा जाता है, जैसाकि कुछ उपयोगितावादी इसका समर्थन करते हैं। किन्तु शास्त्रों के उन विधि-विधानों की उपेक्षा करना, जो आध्यात्मिक विकास के लिए हैं, *नियम-अग्रह* कहलाता है। *आग्रह* शब्द का अर्थ है, "स्वीकार करने के लिए उत्सुकता" और *अग्रह* का अर्थ है, "स्वीकार न करना।" इन दोनों शब्दो के साथ 'नियम' (विधि-विधान) जोड़ने से (संधि द्वारा) *नियमाग्रह* शब्द बनता है। इस तरह *नियमाग्रह* शब्द के दो अर्थ होते हैं, जो शब्दों के विशिष्ट संयोग के अनुसार समझे जाते हैं। जो लोग कृष्णभावनामृत में रुचि रखते हैं, उन्हें आर्थिक विकास के विधि-विधानों को ग्रहण करने में उत्सुक नहीं होना चाहिए अपितु शास्त्रों के विधि-विधानों को कृष्णभवनामृत की प्रगति के लिए अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। उन्हें अवैध मैथुन, मांसाहार, द्यूत-क्रीड़ा तथा मादक द्रव्यों के सेवन से दूर रहकर अनुष्ठानों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।

मनुष्य को चाहिए कि मायावादियों की संगति से भी बचे, क्योंकि वे केवल वैष्णवों (भक्तों) की निन्दा ही करते रहते हैं। अत्याहारियों के अन्तर्गत इन लोंगो का समावेश हो जाता है— *भुक्तिकामी* अर्थात् भौतिक सुख चाहने वाले, *मुक्तिकामी* अर्थात् जो निराकार ब्रह्म में विलीन होकर मुक्ति चाहते हैं तथा *सिद्धिकामी* अर्थात् जो योग की सिद्धि चाहते हैं। ऐसे लोगों की संगति करना तनिक भी वांछनीय नहीं है।

लालच (*लौल्य*) की श्रेणी के अन्तर्गत योग साधकर मन का विस्तार करना, ब्रह्म में लीन होना या मनमानी भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करने की इच्छाएँ सम्मिलित हैं। ऐसे भौतिक लाभ प्राप्त करने या तथाकथित आध्यात्मिक उन्नति करने के सारे प्रयास कृष्णभावनामृत के पथ में बाधक बनते हैं।

पूँजीवादियों एवं साम्यवादियों के मध्य जो आधुनिक युद्ध चल रहा है, वह अत्याहार के सम्बन्ध में श्रील रूप गोस्वामी के उपदेश की अवमानना करने के कारण है। आधुनिक पूँजीवादी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का संग्रह करते हैं और साम्यवादी अनकी सम्पन्नता से ईर्ष्या करने के कारण सारे धन तथा सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करना चाहते हैं। दुर्भाग्यवश ये साम्यवादी सम्पत्ति तथा उसके वितरण की समस्या को हल करना नहीं जानते। फलस्वरूप जब पूँजीवादियों की सम्पत्ति साम्यवादियों के हाथ में जाती है, तो उसका कोई हल नहीं निकलता। इन दोनों विचारधाराओं से विपरीत कृष्णभावनाभावित विचारधारा है, जो यह बताती है कि सारी सम्पत्ति कृष्ण की है।

इस प्रकार जब तक सारी सम्पत्ति कृष्ण के प्रशासन के अन्तर्गत नहीं आ जाती, तब तक मनुष्य जाति की आर्थिक समस्या का कोई हल नहीं मिल सकता। साम्यवादियों या पूँजीवादियों के हाथों में सम्पत्ति सौंप देने से कोई हल निकलने वाला नहीं है। यदि सौ डालर का एक नोट सडक पर पड़ा हो, तो कोई व्यक्ति उसे उठाकर अपनी जेब में रख सकता है। ऐसा व्यक्ति ईमानदार नहीं है। दूसरा व्यक्ति इस धन को देखने पर यह सोचकर कि उसे दूसरे का धन नहीं छूना चाहिए, उसे वहीं पड़ा रहने दे सकता है। यद्यपि यह दूसरा व्यक्ति अपने कार्य के लिए उस धन को चुराता नहीं, लेकिन वह उसके सही उपयोग से भी अनजान होता है। तीसरा व्यक्ति, जो इस सौ डालर के नोट को देखता है, वह उसे उठाकर उस व्यक्ति को खोज सकता है जिसने इसे खोया था और उसे वापस दे सकता है। यह व्यक्ति उस धन को अपने ऊपर खर्च करने के लिए न तो चुराता है, न ही उसकी उपेक्षा करके उसे सड़क पर पड़ा रहने देता है। इस धन को उठाकर और उसे उस व्यक्ति को देकर जिसने उसे खोया था, यह व्यक्ति ईमानदार एवं चतुर सिद्ध होता है।

पूँजीवादियों की सम्पत्ति को साम्यवादियों को हस्तान्तरित करने मात्र से आधुनिक राजनीति की समस्या का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि जब कोई साम्यवादी धन पाता है, तो वह उसका उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है। वास्तव में सारे संसार की सम्पत्ति कृष्ण की है और प्रत्येक जीव को, चाहे वह मनुष्य हो या पशु, यह

जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह ईश्वर की सम्पत्ति को अपने पालन के लिए उपयोग में लाए। जब कोई व्यक्ति, चाहे वह पूँजीवादी हो या साम्यवादी, अपने पालन (भरण) की आवश्यकता से अधिक ग्रहण करता है, तो वह चोर होता है और वह प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होने योग्य है।

विश्व की सम्पत्ति का उपयोग समस्त जीवों के कल्याण के लिए होना चाहिए क्योंकि माता प्रकृति की यही योजना है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् की सम्पत्ति का उपभोग करते हुए जीवित रहने का अधिकार है। जब लोग भगवान् की सम्पत्ति को वैज्ञानकि ढंग से उपयोग में लाने की कला सीख लेंगे, तब वे एक दूसरे के अधिकारों पर अतिक्रमण नहीं करेंगे। तभी एक आदर्श समाज का निर्माण हो सकता है। ऐसे आध्यात्मिक समाज के मूलभूत सिद्धांन्त का उल्लेख *श्रीईशोपनिषद्* के प्रथम मन्त्र में हुआ है :

ईशावास्यम् इदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

"इस ब्रह्मांड के भीतर की प्रत्येक चर अथवा अचर वस्तु भगवान् द्वारा नियन्त्रित है और उन्हीं के अधिकार में है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपने लिए उन्हीं वस्तुओं का स्वीकार करे, जो उसके लिए आवश्यक हैं और उसके भाग के रूप में सुरक्षित कर दी गई हैं और यह जानते हुए कि अन्य वस्तुएँ किसकी हैं, उन्हें ग्रहण न करे।"

कृष्णभावनाभावित भक्त भलीभाँति जानते हैं कि इस भौतिक जगत की रचना भगवान् की पूर्ण व्यवस्था द्वारा समस्त जीवों के जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से की गई है, जिसमें एक दूसरे के जीवन या अधिकारों में किसी तरह का अतिक्रमण करने की आवश्यकता न हो। यह पूर्ण व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति की उसकी असली आवश्यकताओं के अनुसार हर एक को सम्पत्ति का सही-सही भाग प्रदान करती है, जिससे हर जीव "सादा जीवन तथा उच्च विचार" सिद्धान्त के अनुसार शान्तिपूर्वक रह सके। दुर्भाग्यवश भौतिकतावादी लोग, जिनकी न तो ईश्वर की योजना में श्रद्धा है, न ही उच्चतर आध्यात्मिक विकास की महत्त्वाकांक्षा है, अपनी ईश्वरप्रदत्त बुद्धि का दुरुपयोग केवल अपनी भौतिक सम्पदा को बढ़ाने में करते हैं। वे अपनी भौतिक स्थिति को सुधारने के लिए अनेक पद्धतियों का आविष्कार करते हैं—यथा पूँजीवाद तथा भौतिकतावादी साम्यवाद। उन्हें ईश्वर के नियमों या उच्चतर उद्देश्यों में कोई रुचि नहीं होती। वे सदैव इन्द्रियतृप्ति के लिए अपनी असीम इच्छाओं की पूर्ति के लिए अपने साथियों का शोषण करने की क्षमता के कारण विलग दिखते हैं।

यदि मानव समाज श्रील रूप गोस्वामी द्वारा गिनाये गये मूलभूत दोषों (अत्याहार इत्यादि) को छोड़ दे, तो मनुष्यों तथा पशुओं, पूँजीपतियों तथा साम्यवादियों आदि के बीच का सारा वैमनस्य दूर हो जाएगा। यही नहीं, आर्थिक या राजनीतिक विषमता तथा अस्थिरता की सारी समस्याएँ हल हो जाएँगी। यह

शुद्ध चेतना समुचित आध्यात्मिक शिक्षा तथा अभ्यास द्वारा जागृत की जाती है, जो वैज्ञानिक रीति से कृष्णभावनामृत आन्दोलन द्वारा प्रदान की जाती है।

यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन एक आध्यात्मिक समुदाय का संगठन प्रदान करता है, जो विश्व में शान्तिपूर्ण स्थिति ला सकता है। प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को अपनी चेतना को शुद्ध करना चाहिए और कृष्णभावनामृत आंदोलन की हृदयपूर्वक शरण ग्रहण करके भक्ति मार्ग में अवरोधों से अपने को मुक्त कर लेना चाहिए। ●

श्लोक ३

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तत्कर्मप्रवर्तनात्।
सङ्गत्यागात्सतो वृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिध्यति॥ ३॥

उत्साहात्—उत्साह से; **निश्चयात्**—निश्चय से; **धैर्यात्**—धैर्य से; **तत्-तत्-कर्म**—भक्तिमय सेवा के अनुकूल विभिन्न कार्य; **प्रवर्तनात्**—सम्पन्न करने से; **सङ्ग-त्यागात्**—अभक्तों की संगति छोड़ने से; **सतः**—महान् पूर्ववर्ती आचार्यों का; **वृत्तेः**—पदचिह्नों का अनुसरण करने से; **षड्भिः**—इन छहों से; **भक्तिः**—भक्ति; **प्रसिध्यति**—अग्रसर होती है या सफल होती है।

अनुवाद

शुद्ध भक्ति को सम्पन्न करने में छह सिद्धान्त अनुकूल होते हैं : (१) उत्साही बने रहना (२) निश्चय के साथ प्रयास करना (३) धैर्यवान होना (४) नियामक सिद्धान्तों के अनुसार कर्म करना (यथा *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम्*—कृष्ण का श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करना) (५) अभक्तों की संगति छोड़ देना तथा (६) पूर्ववर्ती आचार्यों के चरणचिह्नों पर चलना। ये छहों सिद्धान्त निस्सन्देह शुद्ध भक्ति की पूर्ण सफलता के प्रति आश्वस्त करते हैं।

तात्पर्य

भक्ति भावनात्मक चिन्तन या काल्पनिक ऊर्मि नहीं है। इसकी विषयवस्तु व्यावहारिक सक्रियता है। श्रील रूप गोस्वामी ने अपने *भक्तिरसामृत-सिंधु* (१.१.११) में भक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है :

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"*उत्तमा भक्ति* या पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति इस तरह की जाने वाली भक्ति है, जो भगवान् के अनुकूल है। इस भक्ति को किसी भी बाह्य प्रयोजन से मुक्त होना चाहिए और सकाम कर्म, निर्विशेष ज्ञान तथा अन्य समस्त स्वार्थमयी इच्छाओं से रहित होना चाहिए।"

भक्ति एक प्रकार का अनुशीलन है। ज्योंही हम 'अनुशीलन'

का नाम लेते हैं, तो हमारा अभिप्राय सक्रियता या क्रियाशीलता से रहता है। आध्यात्मिकता के अनुशीलन का अर्थ ध्यान के लिए निष्क्रिय होकर बैठ जाना नहीं है, जैसाकि कुछ छद्म योगी सिखाते हैं। ऐसा निष्क्रिय ध्यान उन लोगों के लिए अच्छा हो सकता है, जिन्हें भक्तिमय सेवा का पता नहीं है। इसलिए कभी-कभी इसकी संस्तुति व्यवधानात्मक भौतिकतावादी कार्यकलापों को रोकने के लिए की जाती है। ध्यान का अर्थ है, कम से कम ध्यान करते समय व्यर्थ के कार्यकलापों को रोक देना। किन्तु भक्तिमय सेवा न केवल ऐसे सभी व्यर्थ संसारी कार्यकलापों को रोकती है, अपितु मनुष्य को सार्थक भक्तिकार्यों में भी लगाती है। श्री प्रह्लाद महाराज संस्तुति करते हैं :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भक्ति की नौ विधियाँ इस प्रकार हैं :

१. परमेश्वर के नाम तथा उनकी महिमाओं को सुनना
२. उनकी महिमाओं का कीर्तन करना
३. भगवान् का स्मरण करना
४. भगवान् के चरणों की सेवा करना
५. अर्चाविग्रह की पूजा करना
६. भगवान् को नमस्कार करना
७. भगवान् के दास रूप में कार्य करना

८. भगवान् के साथ मित्रता करना
९. भगवान् के प्रति पूर्णतया आत्मसमर्पण करना

दिव्य ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में *श्रवणम्* अर्थात् सुनना प्रथम कदम है। मनुष्य को चाहिए कि अनधिकृत पुरुषों की बातें कान से न सुने, अपितु योग्य व्यक्ति के पास जाये, जैसाकि भगवद्गीता (४.३४) में संस्तुति की गई है :

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

"गुरु के पास जाकर सत्य को सीखने का प्रयत्न करो। उनसे विनीत भाव से जिज्ञासा करो और उनकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकता है, क्योंकि उसने सत्य का दर्शन किया है।"

मुण्डक उपनिषद् में और भी संस्तुति की गई है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—उस दिव्य विज्ञान को समझने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाना आवश्यक है। इस प्रकार विनीत भाव से दिव्य गुह्य ज्ञान प्राप्त करने की यह विधि केवल मानसिक चिन्तन पर आधारित नहीं है। इस प्रसंग में श्री चैतन्य महाप्रभु ने रूप गोस्वामी को बतलाया :

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव ।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलताबीज॥

"ब्रह्मा की सृष्टि का विचरण करते समय कोई भाग्यशाली जीव

भक्तिलता का बीज प्राप्त कर सकता है। यह सब गुरु एवं कृष्ण की कृपा से ही सम्भव होता है। (*चैतन्यचरितामृत, मध्य* १९.१५१)। सारे जीव, जो स्वभाव से ही आनन्दमय हैं, उनके लिए यह भौतिक जगत एक बन्दीगृह जैसा है। वे वास्तव में इस प्रतिबन्धित सुख के संसार रूपी बन्दीगृह से मुक्त होना चाहते हैं, लेकिन मुक्ति की विधि न जानने के कारण वे एक योनि से दूसरी योनि में और एक ग्रह से दूसरे ग्रह में देहान्तर करने के लिए बाध्य होते हैं। इस प्रकार जीव समग्र भौतिक जगत में भ्रमण करते रहते हैं। जब सौभाग्य से कोई जीव किसी शुद्ध भक्त के संसर्ग में आता है और धैर्यपूर्वक उससे सुनता है, तो वह भक्तिपथ का अनुसरण करने लगता है। ऐसा सुअवसर केवल निष्ठावान् व्यक्ति को प्रदान किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ सम्पूर्ण मानवता को ऐसा अवसर प्रदान करता है। यदि सौभाग्यवश कोई व्यक्ति भक्तिमय सेवा में प्रवृत्त होने के इस सुअवसर का लाभ उठाता है, तो उसके लिए तुरन्त ही मुक्ति का मार्ग खुल जाता है।

मनुष्य को चाहिए कि भगवद्धाम वापस जाने के इस सुअवसर को अत्यन्त उत्साहपूर्वक स्वीकार करे। उत्साह के बिना कोई सफल नहीं हो सकता। भौतिक जगत में भी सफल होने के लिए मनुष्य को अपने कार्य-क्षेत्र में अत्यधिक उत्साही बनना होता है। जो अपने क्षेत्र में सफलता चाहता है, ऐसे विद्यार्थी, व्यापारी, कलाकार या अन्य किसी भी व्यक्ति को उत्साही बनना पड़ता है। इसी प्रकार भक्ति के क्षेत्र में भी मनुष्य

को अत्यन्त उत्साही होना पड़ता है। उत्साह का अर्थ है कर्म, लेकिन यह कर्म किसके लिए? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य को सदैव कृष्ण के लिए कर्म करना चाहिए—*कृष्णार्थाखिल चेष्टा।* (भक्तिरसामृत सिन्धु)

जीवन की सभी अवस्थाओं में भक्तियोग में सिद्धि प्राप्त करने के लिए भक्ति के सारे कार्यकलाप गुरु के निर्देशन में करने होते हैं। ऐसा नहीं है कि मनुष्य को अपने कार्यकलापों तक ही सीमित रहना होता है या उन्हें संकुचित करना पड़ता है। कृष्ण सर्वव्यापी हैं अतएव कृष्ण से स्वतन्त्र कुछ भी नहीं है, जैसाकि कृष्ण स्वयं भवगद्गीता (९.४) में कहते हैं :

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानिसर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

"यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड मेरे अव्यक्त रूप में मेरे द्वारा व्याप्त है। सारे जीव मुझ में हैं, लेकिन मैं उनमें नहीं हूँ।" प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में मनुष्य को हर वस्तु कृष्ण की सेवा के लिए अनुकूल बनानी होती है। उदाहरणार्थ, इस समय हम डिक्टाफोन (बोलकर लिखने का यन्त्र) का उपयोग कर रहे हैं। जिस भौतिकतावादी ने इस यन्त्र का आविष्कार किया, उसने इसे व्यापारियों या सांसारिक विषयों पर लिखने वालों के लिए बनाया था। निश्चित रूप से उसने इस डिक्टाफोन का उपयोग भगवान् की सेवा में किये जाने के विषय में नहीं सोचा होगा, लेकिन हम इसका उपयोग कृष्णभावनाभावित साहित्य लिखने के लिए कर

रहे हैं। निस्सन्देह, डिक्टाफोन का निर्माण पूर्णरूपेण कृष्ण की शक्ति के अन्तर्गत है। इस यन्त्र के सारे भाग, जिसमें इसके इलेक्ट्रॉनिक कार्य भी सम्मिलित हैं, भौतिक ऊर्जा के पाँच मूलभूत प्रकारों—भूमि, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—के विभिन्न संयोगों एवं अन्त:क्रियाओं से बने हुए हैं। अन्वेषक ने इस जटिल यन्त्र को तैयार करने में अपना मस्तिष्क लगाया है, किन्तु उसका मस्तिष्क तथा सारे अवयव कृष्ण द्वारा प्रदान किये गये हैं। कृष्ण के कथन—*मत्स्थानि सर्वभूतानि*—के अनुसार "प्रत्येक वस्तु मेरी शक्ति पर आश्रित है।" इस प्रकार भक्त समझ सकता है कि चूँकि कृष्ण की शक्ति से कोई भी वस्तु स्वतन्त्र नहीं है, अतएव प्रत्येक वस्तु को उन्हीं की सेवा में लगाना चाहिए।

कृष्णभावनामृत में बुद्धिपूर्वक किया गया प्रयास उत्साह कहलाता है। भक्तगण उन सही-सही साधनों का पता लगा लेते हैं, जिनसे हर वस्तु का उपयोग कृष्ण की सेवा में किया जा सके (*निर्बन्ध: कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते*)। भक्ति को सम्पन्न करना निष्क्रिय ध्यान नहीं, अपितु आध्यात्मिक जीवन की पूर्वभूमिका में व्यावहारिक कर्म है।

ये सारे कार्यकलाप धैर्यपूर्वक सम्पन्न करने चाहिए। कृष्णभावनामृत में मनुष्य को अधीर नहीं होना चाहिए। निस्सन्देह, यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन अकेले ही प्रारम्भ किया गया था और प्रारम्भ में किसी ने रुचि नहीं दिखाई थी। लेकिन चूँकि हम अपने भक्ति-कार्य धैर्यपूर्वक करते रहे, अतएव धीरे-धीरे लोग इस आन्दोलन की महत्ता समझने लगे और अब

वे इसमें उत्सुकतापूर्वक सम्मिलित हो रहे हैं। मनुष्य को भक्ति करते समय अधीर नहीं होना चाहिए, अपितु गुरु से उपदेश लेना चाहिए और गुरु तथा कृष्ण की कृपा पर अवलम्बित रहते हुए उसे धैर्यपूर्वक पूरा करना चाहिए। कृष्णभावनाभावित कार्य-कलापों की सफल सम्पन्नता के लिए धैर्य तथा विश्वास दोनों की आवश्यकता है। यह स्वाभाविक है कि एक नवविवाहिता कन्या अपने पति से सन्तान की कामना करती है, किन्तु वह विवाह के तुरन्त बाद सन्तान प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकती। निस्सन्देह, विवाह होते ही वह सन्तान प्राप्ति के लिए प्रयास कर सकती है, लेकिन उसे अपने पति के प्रति समर्पित होकर विश्वस्त होना पड़ेगा कि निश्चित समय में सन्तान का जन्म होगा। इसी प्रकार भक्ति में समर्पण का अर्थ है, विश्वस्त होना। भक्त सोचता है—*अवश्य रक्षिबे कृष्ण*—"कृष्ण निश्चित रूप से मेरी रक्षा करेंगे और भक्ति की सफल सम्पन्नता के लिए मुझे सहायता देंगे।" यही विश्वास कहलाता है।

जैसाकि पहले बताया जा चुका है, मनुष्य को विधि-विधानों को सम्पन्न करने में आलस्य नहीं करना चाहिए, अपितु अत्यधिक उत्साह दिखलाना चाहिए—*तत्-तत्कर्मप्रवर्तन*। विधि-विधानों की उपेक्षा से भक्ति विनष्ट हो जाएगी। इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन में चार मूल नियामक सिद्धान्त हैं—अवैध मैथुन, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा मादक द्रव्यों का सेवन—इन चारों का बहिष्कार। भक्त को इन सिद्धान्तों का पालन करने में अत्यन्त उत्साह दिखलाना चाहिए। यदि वह इनमें से किसी

भी एक का पालन करने में शिथिलता बरतता है, तो उसकी प्रगति अवश्य ही रुक जाएगी। अतएव श्रील रूप गोस्वामी की संस्तुति है—*तत्-तत्-कर्म-प्रवर्तनात्*—"मनुष्य को वैधी भक्ति के विधि-विधानों का कठोरता से पालन करना चाहिए।" इन चार निषेधों (*यम*) के अतिरिक्त चार सकारात्मक विधियाँ (*नियम*) भी हैं—यथा प्रतिदिन जपमाला पर सोलह माला का जप करना। इन अनुष्ठानों को उत्साहपूर्वक एवं श्रद्धासहित सम्पन्न करना चाहिए। यही *तत्-तत्-कर्म-प्रवर्तन* अर्थात् भक्ति में विविध संलग्नता कहलाती है।

साथ ही भक्ति में सफलता के लिए मनुष्य को अवांछित लोगों की संगति त्याग देनी चाहिए। इनमें कर्मी, ज्ञानी, योगी तथा अन्य अभक्तगण का समावेश हो जाता है। एक बार श्रीचैतन्य महाप्रभु से उनके एक गृहस्थ भक्त ने वैष्णवमत के सामान्य सिद्धान्तों एवं वैष्णव के सामान्य नित्य कार्यकलापों के विषय में पूछा, तो उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया था—*असत्-सङ्ग त्याग—एई वैष्णव आचार।* "वैष्णव वह है जो संसारी लोगों या अभक्तों की संगति छोड़ दे।" अतएव श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने संस्तुति की है—*तांदेर चरण सेवि भक्तसने वास*—मनुष्य को शुद्ध भक्तों के संग में रहना चाहिए और पूर्ववर्ती आचार्यों—षड्गोस्वामियों (यथा श्री रूप गोस्वामी, श्री सनातन गोस्वामी, श्री जीव गोस्वामी, श्री रघुनाथ दास गोस्वामी, श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी तथा श्री रघुनाथ भट्ट गोस्वामी) द्वारा निर्धारित किये गये विधि-विधानों का पालन करना चाहिए। यदि वह भक्तों की संगति

करता है, तो अभक्तों के साथ रहने का अवसर ही नहीं आता। अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ ऐसे अनेक केन्द्र खोल रहा है, जिससे लोगों को भक्तों के साथ रहने तथा आध्यात्मिक जीवन के नियामक सिद्धान्तों का अभ्यास करने के लिए आमन्त्रित किया जा सके।

भक्तिमय सेवा का अर्थ है, दिव्य कार्यकलाप। दिव्य स्तर पर भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा किसी प्रकार का कल्मष नहीं होता। यह *विशुद्ध सत्त्व* कहलता है अर्थात् यह शुद्ध सत्त्वगुण का या रजो तथा तमो गुणों के कल्मष से मुक्त सत्त्वगुण का स्तर है। इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हम चाहते हैं कि सभी लोग प्रात:काल ४ बजे तक जग जाँय और मंगल आरती अर्थात् प्रात:कालीन पूजा में भाग लें, तब *श्रीमद्भागवत* पढ़ें, कीर्तन करें, आदि-आदि। इस प्रकार हम नित्य चौबीसों घण्टे भक्ति के कार्यकलापों में संलग्न रहते हैं। यह सतोवृत्ति है अर्थात् उन पूर्ववर्ती आचार्यों के पदचिह्नों का अनुगमन है, जिन्होंने अपना प्रत्येक क्षण कृष्णभावनाभावित कार्यकलापों में बड़ी दक्षता से लगाया।

यदि कोई इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी द्वारा दिये गये उपदेश का कड़ाई से पालन करता है—उत्साही होना, दृढ़ निश्चयी होना, धैर्यवान होना, अवांछित व्यक्तियों की संगति का परित्याग करना, नियमों का पालन करना तथा भक्तों की संगति करना—तो वह भक्ति में अवश्य प्रगति करता है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टिप्पणी है कि दार्शनिक चिन्तन

द्वारा ज्ञान का अनुशीलन, सकाम कर्मों की प्रगति द्वारा संसारी ऐश्वर्य का संग्रह तथा योग सिद्धियों अर्थात् भौतिक पूर्णता की इच्छा—ये सब भक्ति के सिद्धांन्तों से सर्वथा विपरीत हैं। मनुष्य को इन अस्थायी कार्यकलापों के प्रति पूर्णतया उदासीन रहकर अपना ध्यान भक्ति के अनुष्ठानों की ओर मोड़ना है। *भगवद्गीता* (२.६९) के अनुसार :

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

"जो समस्त प्राणियों के लिए रात्रि है, वह आत्मसंयमी के लिए जगने का समय है और जो समस्त प्राणियों के जगने का समय है, वह अन्तर्द्रष्टा मुनि के लिए रात्रि है।"

भगवान् की भक्ति में व्यस्तता ही जीव का प्राण तथा आत्मा है। यही वांछित लक्ष्य है और मनुष्य के जीवन की परम सिद्धि है। मनुष्य को इस विषय में विश्वस्त भी होना चाहिए और उसे यह विश्वास भी रखना चाहिए कि भक्ति के अतिरिक्त सारे कार्यकलाप—यथा मानसिक तर्क, सकाम कर्म या यौगिक प्रयास—कभी कोई स्थायी लाभ देने वाले नहीं। भक्ति के मार्ग पर पूर्ण विश्वास से वांछित लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु अन्य मार्गों का अनुसरण करने के प्रयास से मनुष्य केवल अशान्त ही होगा। *श्रीमद्भागवत* के सातवें स्कन्ध में कहा गया है, "मनुष्य को भलीभाँति आश्वस्त हो जाना चाहिए कि जिन लोगों ने अन्य प्रयोजनों के लिए कठिन तपस्या करने के उद्देश्य से

भक्ति का परित्याग किया है, वे भले ही लाख उच्चतर तपस्याएँ करें, लेकिन उनके मन शुद्ध नहीं है, क्योंकि उन्हें भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा के विषय में कोई जानकारी नहीं है।"

सातवें स्कन्ध में ही आगे कहा गया है, "भले ही मानसिक चिन्तक (ज्ञानी) तथा सकाम कर्मी बड़ी-बड़ी तपस्याएँ कर लें, फिर भी वे पतित होते हैं, क्योंकि उन्हें भगवान् के चरणकमलों के विषय में कोई जानकारी नहीं रहती।" किन्तु भगवद्भक्तों का कभी पतन नहीं होता। *भगवद्गीता* (९.३१) में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्जुन को आश्वस्त करते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—"हे कुन्तीपुत्र! निडर होकर घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होता।"

पुनः *भगवद्गीता* (२.४०) में कृष्ण कहते हैं :

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

"इस प्रयास का न विनाश होता है, न इसमें कमी आती है। इस पथ पर थोड़ी सी प्रगति भी मनुष्य की भयंकर से भयंकर भय से रक्षा कर सकती है।"

भक्तिमय सेवा इतनी विशुद्ध तथा पूर्ण होती है कि एक बार प्रारम्भ हो जाने पर मनुष्य चरम सफलता की ओर बलपूर्वक खिचता चला जाता है। कभी-कभी मनुष्य अपने सामान्य भौतिक कार्यों को त्याग कर भावावेश में आकर परमेश्वर के चरणकमलों की शरण ले लेता है और इस तरह वह भक्ति की प्रारम्भिक

शुरुआत कर देता है। यदि ऐसा अपरिपक्व भक्त पतित हो भी जाता है, तो उसकी कोई हानि नहीं होती। दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति को क्या लाभ होता है, जो वर्ण तथा आश्रम के अनुसार नियमित कर्म तो करता है, लेकिन भक्ति नहीं करता? पतित भक्त का अगला जन्म किसी निम्नकुल में क्यों न हो, किन्तु फिर भी उसकी भक्ति वहीं से फिर प्रारम्भ हो जाएगी, जहाँ उसने छोड़ी थी। *भक्ति अहैतुक्यप्रतिहता* है, यह न तो किसी संसारी कारण का फल है, न ही इसे किसी भौतिक अवरोध से स्थायी रूप से कम की जा सकती है। अतएव भक्त को अपने कार्य के प्रति आश्वस्त होना चाहिए और उसे कर्मियों, ज्ञानियों तथा योगियों के कार्यकलापों में अत्यधिक रुचि नहीं लेनी चाहिए।

निस्सन्देह, सकाम कर्मियों, ज्ञानियों तथा योगियों में अनेक सद्गुण होते हैं, लेकिन भक्त के चरित्र में सारे सद्गुण स्वत: विकसित हो जाते हैं। इसके लिए बाह्य प्रयास नहीं करना होता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में पुष्टि की गई है, जिस व्यक्ति ने शुद्ध भक्ति विकसित कर ली है, उसमें देवताओं के सारे सद्गुण क्रमश: प्रकट होने लगते हैं। चूँकि भक्त किसी भौतिक प्रपंच में रुचि नहीं रखता, अतएव वह भौतिक दृष्टि से कल्मषग्रस्त नहीं होता। वह तुरन्त दिव्य जीवन के स्तर पर स्थिर हो जाता है। किन्तु जो व्यक्ति संसारी प्रपंच में लगा रहता है—चाहे वह तथाकथित ज्ञानी हो, योगी हो, कर्मी हो, परोपकारी हो, राष्ट्रवादी हो या अन्य कुछ हो—वह महात्मा के उच्च पद तक ऊपर नहीं उठ सकता। वह दुरात्मा या संकुचित हृदय वाला बना

रहता है। भगवद्गीता (९.१३) के अनुसार :

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता: ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

"हे पृथापुत्र, जो मोहग्रस्त नहीं हैं, ऐसे महात्मा दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतया भक्तिमय सेवा में निमग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि एवं अविनाशी पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के रूप में जानते हैं।"

चूँकि सारे भगवद्भक्त उनकी परम शक्ति के संरक्षण में रहते हैं, अतएव उन्हें भक्तिमय सेवा के मार्ग से विचलित होकर कर्मी, ज्ञानी या योगी के पथ को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यह *उत्साहान् निश्चयाद् धैर्यात् तत्-तत्-कर्म-प्रवर्तनात्*—अर्थात् धैर्य तथा विश्वास के साथ भक्ति के नियमित कार्यों को उत्साहपूर्वक सम्पन्न करना कहलाता है। इस प्रकार मनुष्य बिना व्यवधान के भक्ति में प्रगति कर सकता है। •

श्लोक ४

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीति-लक्षणम् ॥ ४॥

ददाति—दान देता है; **प्रतिगृह्णाति**—बदले में स्वीकार करता है; **गुह्यम्**—गोपनीय विषय; **आख्याति**—बताता है; **पृच्छति**—

पूछता है; **भुङ्क्ते**—खाता है; **भोजयते**—खिलाता है; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **षट्-विधम्**—छह प्रकार के; **प्रीति**—प्रेम; **लक्षणम्**—लक्षण।

अनुवाद

दान में उपहार देना, दान-स्वरूप उपहार स्वीकार करना, विश्वास में आकर अपने मन की बातें प्रकट करना, गोपनीय ढंग से पूछना, प्रसाद ग्रहण करना तथा प्रसाद अर्पित करना—भक्तों के आपस में प्रेमपूर्ण व्यवहार के ये छह लक्षण हैं।

तात्पर्य

इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी यह बतलाते हैं कि किस प्रकार अन्य भक्तों की संगति में भक्ति के कार्यों को करना चाहिए। ये कार्य छह प्रकार के होते हैं—(१) भक्तों को दान देना (२) बदले में भक्तगण जो अर्पित करें उसे स्वीकार करना (३) भक्तों से अपने मन की बात कहना (४) उनसे भगवान् की गुह्य सेवा के विषय में प्रश्न पूछना (५) भक्तों द्वारा दिये गये प्रसाद का सम्मान करना तथा (६) भक्तों को प्रसाद खिलाना। इस तरह एक अनुभवी भक्त सिखाता है और अनुभवहीन भक्त उससे सीखता है। यह *गुह्यम आख्याति पृच्छति* कहलाता है। जब भक्त प्रसाद बाँटता है, तो हमें अपनी भक्तिभावना को बनाये रखने के लिए इस प्रसाद को, शुद्ध भक्तों के माध्यम से प्राप्त भगवान् की कृपा के रूप में, ग्रहण करना चाहिए। हमें शुद्ध

भक्तों को अपने घर में आमन्त्रित भी करना चाहिए, उन्हें प्रसाद अर्पण करना चाहिए और उन्हें सभी प्रकार से प्रसन्न करने के लिए तैयार रहना चाहिए। यह *भुङ्क्ते भोजयते चैव* कहलाता है।

यहाँ तक कि सामान्य सामाजिक कार्यकलापों में भी दो प्रेमी मित्रों के बीच ये छह प्रकार के आचार परम आवश्यक हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई व्यापारी दूसरे व्यापारी से सम्पर्क स्थापित करना चाहता है, तो वह किसी होटल में भोज का आयोजन करता है और उस भोज में वह खुलकर यह अभिव्यक्त करता है कि वह क्या करना चाहता है। तब वह अपने व्यापारी मित्र से पूछता है कि मैं क्या करूँ और कभी-कभी भेंटों का आदान-प्रदान भी होता है। इस प्रकार जब भी प्रीति का व्यवहार होता है, तो ये छह कार्य किये जाते हैं। पिछले श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को संसारी संगति छोड़कर भक्तों की संगति करनी चाहिए (*सङ्ग त्यागात् सतो वृत्तेः*)। अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ की स्थापना भक्तों के बीच इन छह प्रकार के प्रेम के आदान-प्रदान की सुविधा के लिए की गई है। यह संघ अकेले एक व्यक्ति द्वारा शुरु किया गया था, किन्तु चूँकि लोग इसमें भाग ले रहे हैं तथा आदान-प्रदान नीति का आचरण कर रहे हैं, अतएव यह संघ सारे विश्व में फैल रहा है। हमें प्रसन्नता है कि लोग संघ के कार्यकलापों के विकास हेतु उदार होकर दान दे रहे हैं और बदले में हम कृष्णभावनामृत विषय से सम्बन्धित जो भी पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ दे पाते हैं, उन्हें वे उत्सुकतापूर्वक ग्रहण कर रहे हैं। कभी-कभी हम हरे

कृष्ण उत्सवों का आयोजन करते हैं और आजीवन सदस्यों तथा मित्रों को इन उत्सवों में सम्मिलित होकर प्रसाद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करते हैं। यद्यपि हमारे अधिकांश सदस्य समाज के उच्चतर स्तर के होते हैं, तो भी वे हमारे पास आते हैं और उन्हें हम जो भी थोड़ा बहुत प्रसाद दे पाते हैं, उसे वे ग्रहण करते हैं। कभी-कभी हमारे सदस्य तथा समर्थक अत्यन्त गोपनीय ढंग से भक्ति सम्पन्न करने की विधियों के विषय में पूछताछ करते हैं, तो हम उन्हें समझाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार हमारा संघ सारे विश्व में सफलतापूर्वक फैल रहा है और सारे देशों का बुद्धिजीवी वर्ग क्रमशः हमारे कृष्णभावनाभावित कार्यकलापों की प्रशंसा करने लगा है। कृष्णभावनामृत संघ का जीवन, सदस्यों के मध्य इन छह प्रकार के प्रेममय विनिमय द्वारा पल्लवित हो रहा है। अतएव लोगों को इस्कॉन के भक्तों से संगति करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए, क्योंकि ऊपर जिन छह विधियों का वर्णन किया गया है, उन्हीं के आदान-प्रदान मात्र से सामान्य व्यक्ति अपनी सुप्त कृष्णभावना को पूर्णतया जागरित कर सकता है। भगवद्गीता (२.६२) में कहा गया है—*सङ्गात् सञ्जायते कामः* :— मनुष्य जैसी संगति करता है, उसी के अनुसार उसकी इच्छाएँ तथा महत्त्वाकांक्षाएँ विकसित होंगी। प्रायः कहा जाता है कि मनुष्य की पहचान उसकी संगति से की जाती है और यदि सामान्य व्यक्ति भक्तों की संगति करता है, तो वह निश्चय ही अपनी सुप्त कृष्णभावना को विकसित करेगा। कृष्णभावनामृत की समझ हर जीव में जन्मजात है और जब जीव को मनुष्य का

शरीर प्राप्त होता है, तो यह चेतना कुछ अंश तक उसमें पहले से विकसित हुई रहती है। *चैतन्यचरितामृत* (मध्य २२.१०७) में कहा गया है :

नित्य-सिद्ध कृष्ण-प्रेम 'साध्य' कभु नय।
श्रवणादि-शुद्ध-चित्ते करये उदय ॥

"जीवों के हृदयों में कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम नित्य स्थित होता है। यह किसी अन्य स्रोत से प्राप्त की जाने वाली वस्तु नहीं है। जब श्रवण तथा कीर्तन से हृदय शुद्ध हो जाता है, तो जीव स्वाभाविक रूप से जाग जाता है।" चूँकि कृष्णभावनामृत हर जीव में अन्तर्निहित है, अतएव हर एक व्यक्ति को कृष्ण के विषय में श्रवण करने का अवसर दिया जाना चाहिए। मात्र श्रवण तथा कीर्तन से मनुष्य का हृदय प्रत्यक्षतः शुद्ध हो जाता है और उसकी मूल कृष्णभावना तुरन्त जागरित हो उठती है। कृष्णभावनामृत कृत्रिम रूप से किसी पर लादा नहीं जाता है; यह पहले से ही विद्यमान है। जब मनुष्य परमेश्वर के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो उसका हृदय समस्त संसारी कल्मष से स्वच्छ हो जाता है। स्वरचित *शिक्षाष्टक* के प्रथम पद्य में ही भगवान् चैतन्य महाप्रभु कहते हैं :

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्ण सङ्कीर्तनम् ॥

"श्रीकृष्ण संकीर्तन की परम विजय हो, जो हृदय में वर्षों से संचित धूल का मार्जन करने वाला तथा बारम्बार होने वाले जन्म-मृत्यु रूप महादावाग्नि को बुझाने वाला है। यह संकीर्तन आन्दोलन सारी मानवता के लिए परम वरदान है, क्योंकि यह मंगलरूपी चन्द्रिका का वितरण करता है। यह समस्त दिव्य ज्ञानरूपी विद्या का जीवन है। यह दिव्य आनन्द के सागर की वृद्धि करने वाला है और जिसके लिए हम सदैव आतुर रहते हैं, उस अमृत का पूर्णरूप से आस्वादन करने में हमें समर्थ बनाता है।"

महामन्त्र का जप करने वाला न केवल शुद्ध हो जाता है, अपितु जो भी हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे॥ के दिव्य उच्चारण को सुनता है, वह भी पवित्र हो जाता है। यहाँ तक कि निम्न पशु, कीड़े, पौधे तथा अन्य योनियों के शरीर में बद्ध हुए जीव भी दिव्य ध्वनि को सुनकर शुद्ध होकर कृष्णभावनाभावित बनने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसकी व्याख्या उस समय ठाकुर हरिदास ने की, जब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनसे पूछा था कि मनुष्य से नीचे के जीव किस तरह भवबन्धन से मुक्त हो सकते हैं। हरिदास ठाकुर ने बताया कि भगवन्नाम का कीर्तन इतना शक्तिशाली है कि यदि कोई जंगल के सुदूर भागों में भी कीर्तन करता है, तो वृक्ष तथा पशु भी ध्वनि के श्रवण मात्र से कृष्णभावनामृत में प्रगति करेंगे। इसे श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्वयं ही वास्तव में सिद्ध कर दिखाया, जब वे झारिखण्ड के जंगल से होकर गुजर रहे थे। उस समय

सिंह, साँप, हिरन तथा अन्य सारे जीव सहज वैर त्याग कर संकीर्तन करने और नाचने लगे थे। निस्सन्देह, हम श्रीचैतन्य महाप्रभु के कार्यकलापों का अनुकरण नहीं कर सकते, लेकिन हम उनके चरणचिह्नों पर तो चल सकते हैं। हम में इतनी शक्ति तो नहीं है कि सिंह, साँप, कुत्ते तथा बिल्ली जैसे निम्न पशुओं को मोहित कर लें या उन्हें नाचने के लिए प्रेरित कर सकें, लेकिन भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन करके विश्व भर के बहुत से लोगों को कृष्णभावनाभावित तो बना ही सकते हैं। भगवन्नाम का जप करना या उसका प्रचार करना योगदान का अथवा दान का एक भव्य उदाहरण है (*ददाति* सिद्धान्त)। इसी संकेत से *प्रतिगृह्णाति* सिद्धान्त का भी पालन करना चाहिए और दिव्य उपहार को प्राप्त करने के लिए तैयार तथा सहमत होना चाहिए। उसे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के विषय में पूछताछ करनी चाहिए और इस भौतिक जगत की स्थिति को समझने के लिए अपना मन खुला रखना चाहिए। इस प्रकार *गुह्यम् आख्याति पृच्छति* सिद्धान्त का पालन किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के सदस्य हर रविवार को जब अपनी-अपनी शाखाओं में प्रीतिभोज का आयोजन करते हैं, तब वे संघ के सारे सदस्यों तथा समर्थकों को साथ-साथ भोजन करने के लिए आमंत्रित करते हैं। इसमें रुचि लेने वाले अनेक लोग प्रसाद ग्रहण करने आते हैं और जब भी सम्भव होता है, वे संघ के सदस्यों को अपने घर बुलाकर प्रचुर प्रसाद प्रदान करते हैं। इस तरह संघ के सदस्य तथा सामान्य जनता दोनों ही

लाभान्वित होते हैं। लोगों को चाहिए कि वे तथाकथित योगियों, ज्ञानियों, कर्मियों तथा परोपकारी लोगों की संगति त्याग दें, क्योंकि इस संगति से किसी को कोई लाभ नहीं मिलता। यदि कोई सचमुच मनुष्य जीवन का लक्ष्य प्राप्त करना चाहता है, तो उसे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के भक्तों की संगति करनी चाहिए, क्योंकि यही एकमात्र आन्दोलन है जो मनुष्य को ईश्वर के प्रति प्रेम विकसित करना सिखाता है। धर्म मानव समाज का विशेष कार्य है और इसी के द्वारा मनुष्य-समाज तथा पशु-समाज में अन्तर जाना जाता है। पशु-समाज में न तो गिरजाघर है, न मस्जिद या कोई अन्य धार्मिक पद्धति है। किन्तु विश्व के समस्त भागों में, मनुष्य-समाज कितना ही दलित क्यों न हो, उसकी कोई न कोई धर्म पद्धति होती है। यहाँ तक कि जंगलों की आदिम जातियों की भी अपनी धर्म पद्धति होती है। जब भी कोई धार्मिक पद्धति विकसित होती है और ईश्वर प्रेम का रूप धारण कर लेती है, तभी वह सार्थक है। जैसाकि श्रीमद्भागवत (१.२.६) के प्रथम स्कन्ध में कहा गया है :

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

"समस्त मानवता के लिए परम धर्म वही है, जिससे लोग दिव्य भगवान् के प्रति प्रेमभक्ति प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी भक्ति को निष्काम तथा अविच्छिन्न होना चाहिए, जिससे आत्मा की पूरी तरह तुष्टि हो सके।"

यदि मानव समाज के सदस्य सचमुच मन की शान्ति, अमन-चैन तथा मनुष्यों एवं राष्ट्रों के बीच मैत्री-सम्बन्ध चाहते हैं, तो उन्हें धर्म की कृष्णभावनाभावित पद्धति का अनुसरण करना चाहिए, जिससे वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के लिए अपने सुप्त प्रेम को विकसित कर सकें। ज्योंही लोग ऐसा करेंगे, त्योंही उनके मन शान्ति तथा चैन से पूरित हो जाएँगे।

इस ओर श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने कृष्ण-भावनामृत आन्दोलन का प्रसार करने में लगे हुए सारे भक्तों को सचेत किया है कि वे उन निर्विशेष मायावादियों से नहीं बोलें, जो ऐसे आस्तिक आन्दोलनों का विरोध करने के लिए सदैव कृतसंकल्प होते हैं। यह संसार मायावादियों तथा नास्तिकों से भरा पड़ा है और संसार के राजनीतिक दल भौतिकतावाद को बढ़ावा देने के लिए मायावाद तथा अन्य नास्तिकतावादी दर्शनों का लाभ उठाते हैं। कभी-कभी वे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विरोध करने के लिए किसी प्रबल दल का समर्थन भी करते हैं। मायावादी तथा अन्य नास्तिक नहीं चाहते कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन विकास करे, क्योंकि यह लोगों को ईश्वर चेतना की शिक्षा देता है। नास्तिकों की यही नीति है। साँप को दूध पिलाने तथा केला खिलाने से कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि साँप कभी भी तुष्ट नहीं होगा। अपितु दूध तथा केला खाकर वह और भी विषैला बन जाता है (*केवलं विषवर्धनम्*)। यदि साँप को दूध पीने के लिए दिया जाए, तो उसका विष बढ़ता ही है। इसी कारण से हमें मायावादी तथा कर्मी रूपी सर्प के समक्ष अपने मन

की बात प्रकट नहीं करनी चाहिए। इस तरह दिल के प्रकटीकरण से कोई लाभ नहीं होगा। अतएव उनकी संगति से पूरी तरह बचना ही बेहतर होगा और उनसे कोई रहस्यात्मक बात नहीं पूछनी चाहिए, क्योंकि वे कभी भी अच्छी सलाह नहीं दे सकते। हमें न तो मायावादियों तथा नास्तिकों को आमन्त्रित करना चाहिए, न उनका आमन्त्रण स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के घनिष्ठ परस्पर सम्पर्क से हम उनकी नास्तिकतावादी मनोवृत्ति से दूषित हो सकते हैं (*सङ्गात् सञ्जायते काम:*)। यह इस श्लोक की निषेधाज्ञा है कि हमें मायावादियों तथा नास्तिकों से कुछ भी लेने देने से दूर रहना चाहिए। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने यह भी सचेत किया है—*विषयीर अन्न खाईले दुष्ट हय मन*—"संसारी लोगों का बनाया हुआ भोजन करने से मनुष्य का मन दुष्ट हो जाता है।" यदि मनुष्य अत्यन्त उन्नत नहीं है, तो वह कृष्णभावनामृत आन्दोलन को आगे बढ़ाने में सब के योगदान का उपयोग करने में समर्थ नहीं होता। अतएव सिद्धान्त के तौर पर किसी को मायावादी या नास्तिक से दान नहीं लेना चाहिए। वस्तुत: श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भक्तों को उन सामान्य मनुष्यों तक की संगति करने से वर्जित किया है, जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं।

निष्कर्ष यह निकलता है कि हमें सदैव भक्तों की संगति करनी चाहिए, भक्ति के नियामक सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए, आचार्यों के पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए तथा गुरु के आदेशों का पूरी तरह पालन करना चाहिए। इस प्रकार

हम अपनी भक्ति तथा सुप्त कृष्णभावनामृत को विकसित करने में समर्थ हो सकेंगे। ऐसा भक्त, जो न तो नौसिखीया है, न महाभागवत, (अत्यन्त उन्नत भक्त), अपितु भक्ति की मध्य अवस्था में है, उससे यह आशा की जाती है कि वह भगवान् से प्रेम करेगा, भक्तों को मित्र बनाएगा, अज्ञानियों पर दया करेगा और ईष्यालु तथा आसुरी स्वभाव वालों का परित्याग करेगा। इस श्लोक में भगवान् से प्रेममय आदान-प्रदान करने तथा भक्तों से मैत्री स्थापित करने की विधि का संक्षिप्त उल्लेख है। *ददाति* सिद्धान्त के अनुसार उन्नत भक्त से आशा की जाती है कि वह अपनी आय का कम से कम पचास प्रतिशत हिस्सा भगवान् तथा उनके भक्तों की सेवा में व्यय करेगा। श्रील रूप गोस्वामी ने अपने जीवन में ऐसा ही आदर्श प्रस्तुत किया। जब उन्होंने अवकाश ग्रहण करने का निश्चय किया, तो उन्होंने अपने जीवन भर की कमाई का पचास प्रतिशत हिस्सा कृष्ण की सेवा में लगा दिया, पच्चीस प्रतिशत अपने सम्बन्धियों में बाँट दिया और शेष पच्चीस प्रतिशत निजी आपत्स्थितियों के लिए रख छोड़ा। सभी भक्तों को इस उदाहरण का पालन करना चाहिए। चाहे जो भी आय हो, उसका पचास प्रतिशत कृष्ण तथा उनके भक्तों के लिए खर्च किया जाना चाहिए। इससे *ददाति* की माँग पूरी होगी।

अगले श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी वर्णन करते हैं कि किस प्रकार के वैष्णव से मित्रता करनी चाहिए तथा किस प्रकार वैष्णवों की सेवा करनी चाहिए। ●

श्लोक ५

कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत
दीक्षास्ति चेत्प्रणतिभिश्च भजन्तमीशम् ।
शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्य-
निन्दादिशून्यहृदमीप्सितसङ्गलब्ध्या ॥ ५ ॥

कृष्ण—भगवान् कृष्ण का पवित्र नाम; **इति**—इस प्रकार; **यस्य**—जिसके; **गिरि**—शब्दों या वाणी में; **तम्**—उसको; **मनसा**—मन से; **आद्रियेत**—आदर करना चाहिए; **दीक्षा**—दीक्षा; **अस्ति**—है; **चेत्**—यदि; **प्रणतिभिः**—प्रणाम के द्वारा; **च**—भी; **भजन्तम्**—भक्ति में लगा हुआ; **ईशम्**—भगवान् की; **शुश्रूषया**—व्यावहारिक सेवा द्वारा; **भजन-विज्ञम्**—भक्ति में आगे बढ़े हुए को; **अनन्यम्**—अविचल; **अन्य-निन्दा-आदि**—अन्यों की निन्दा इत्यादि से; **शून्य**—पूर्णतया विहीन; **हृदम्**—जिसका हृदय; **ईप्सित**—इच्छित; **सङ्ग**—संगति; **लब्ध्या**—प्राप्त करके।

अनुवाद

मनुष्य को चाहिए कि जो भक्त भगवान् कृष्ण के नाम का जप करता है, उसका मन से आदर करे; उसे चाहिए कि वह उस भक्त को सादर नमस्कार करे, जिसने आध्यात्मिक दीक्षा ग्रहण कर ली है और जो अर्चाविग्रह के पूजन में लगा हुआ है एवं उसे चाहिए कि वह उस शुद्ध भक्त की संगति करे और श्रद्धापूर्वक उसकी सेवा करे, जो अनन्य भक्ति में आगे बढ़ा हुआ है और जिसका हृदय दूसरों की आलोचना (निन्दा) करने की प्रवृत्ति से सर्वथा विमुख है।

तात्पर्य

पिछले श्लोक में जिन छह प्रकार के प्रीति के आदान-प्रदानों का उल्लेख हुआ है, उन्हें बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवहार में लाने के लिए विवेकपूर्वक उचित व्यक्तियों का चुनाव करना होगा। अतएव श्रील रूप गोस्वामी परामर्श देते हैं कि हमें वैष्णवों से उनके विशेष पद के अनुसार उचित रीति से मिलना चाहिए। इस श्लोक में वे हमें यह बताते हैं कि तीन प्रकार के भक्तों—कनिष्ठ अधिकारी, मध्यम अधिकारी तथा उत्तम अधिकारी—के साथ किस तरह से व्यवहार किया जाये। कनिष्ठ अधिकारी ऐसा नौसिखीया है, जिसे हरिनाम की दीक्षा गुरु से मिली है और जो भवगन्नाम का जप करने का प्रयास कर रहा है। ऐसे व्यक्ति को मन ही मन कनिष्ठ वैष्णव के रूप में सम्मान देना चाहिए। मध्यम अधिकारी गुरु से आध्यात्मिक दीक्षा प्राप्त किये रहता है और गुरु उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूरी तरह व्यस्त रखते हैं। मध्यम अधिकारी को भक्तिमार्ग के मध्य में स्थित समझना चाहिए। उत्तम अधिकारी वह है, जो भक्ति में बहुत आगे बढ़ा होता है। उत्तम अधिकारी अन्यों की निन्दा करने में रुचि नहीं लेता, उसका हृदय पूरी तरह स्वच्छ रहता है और उसे अनन्य कृष्णभावनामृत अवस्था की अनुभूति हो चुकी होती है। श्रील

रूप गोस्वामी के मतानुसार ऐसे महाभागवत की संगति तथा सेवा अत्यन्त वांछनीय है।

मनुष्य को चाहिए कि वह कनिष्ठ अधिकारी ही न बना रहे, जो सदैव भक्ति के निम्नतम स्तर पर रहता है और केवल मन्दिर के अर्चाविग्रह की पूजा करने में रुचि दिखाता है। ऐसे भक्त का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के ग्याहरवें स्कन्ध (११.२.४७) में इस प्रकार हुआ है :

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥

"जो व्यक्ति मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक तल्लीन रहता है, लेकिन यह नहीं जानता कि भक्तों या सामान्य लोगों से किस तरह व्यवहार किया जाये, वह प्राकृत भक्त या कनिष्ठ अधिकारी कहलाता है।"

अतएव मनुष्य को कनिष्ठ अधिकारी के पद से ऊपर उठकर मध्यम अधिकारी के पद तक पहुँचना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* (११.२.४६) में मध्यम अधिकारी का वर्णन इस प्रकार हुआ है :

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥

"मध्यम अधिकारी भक्त वह है, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्रेम के सर्वोच्च पात्र मानकर पूजता है, भगवद्भक्तों को मित्र

बनाता है, अज्ञानी के प्रति दया दिखाता है और जो प्रकृति से ईर्ष्यालु हैं, उनसे दूर रहता है।"

भक्ति के सही-सही अनुशीलन की यही विधि है; अतएव इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी ने हमें उपदेश दिया है कि विभिन्न भक्तों के प्रति किस तरह व्यवहार किया जाये। हम अपने व्यावहारिक अनुभव से देख सकते हैं कि वैष्णव कई प्रकार के होते हैं। प्राकृत सहजिया सामान्यतया हरे कृष्ण महामन्त्र का जप करते हैं, फिर भी वे स्त्री, धन तथा नशे के प्रति आसक्त रहते हैं। भले ही ऐसे लोग भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हों, लेकिन फिर भी वे ठीक से शुद्ध नहीं हो पाते। एसे लोगों का मन से आदर करना चाहिए, किन्तु उनकी संगति से बचना चाहिए। जो अबोध हैं, किन्तु सहज ही बुरी संगति में पड़ गये हैं, उन पर तभी दया दिखानी चाहिए जब वे शुद्ध भक्तों से उचित उपदेश ग्रहण करना चाहते हों। किन्तु जो नवदीक्षित भक्त प्रामाणिक गुरु से वास्तव में दीक्षित हो चुके हैं और अपने गुरु के आदेशों का गम्भीरता से पालन करने में लगे हैं, उनको आदरपूर्वक नमस्कार करना चाहिए।

इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन में जाति, नस्ल या रंग का भेदभाव किए बिना प्रत्येक मनुष्य को अवसर दिया जाता है। इस आन्दोलन में हर व्यक्ति को सम्मिलित होने या हमारे साथ बैठने, प्रसाद लेने तथा कृष्ण के विषय में सुनने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। जब हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति सचमुच ही कृष्णभावनामृत में रुचि रखता है और दीक्षित होना चाहता है,

तो उसे हम भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने के लिए शिष्य रूप में ग्रहण करते हैं। यदि कोई नया भक्त वास्तव में दीक्षित होता है और अपने गुरु के आदेश से भक्तिमय सेवा में लगा होता है, तो उसे तुरन्त ही प्रामाणिक वैष्णव के रूप में स्वीकार करके नमस्कार करना चाहिए। ऐसे अनेक वैष्णवों में से कोई एक ऐसा होगा, जो भगवान् की सेवा में गम्भीरता से संलग्न रहकर समस्त विधि-विधानों का पालन करता है, जपमाला का नियत संख्या में जप करता है तथा सदैव कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार करने के विषय में विचार करता रहता है। ऐसे वैष्णव को उत्तम अधिकारी के रूप में स्वीकार करना चाहिए और उसकी संगति करनी चाहिए।

जिस प्रक्रिया से भक्त कृष्ण के प्रति अनुरक्त होता है, उसका वर्णन *चैतन्यचरितामृत* (अन्त्य ४.१९२) में हुआ है :

दीक्षाकाले भक्त करे आत्मसमर्पण ।
सेई काले कृष्ण तारे करे आत्मसम ॥

"दीक्षा के समय जब भक्त भगवान् के प्रति पूर्णभाव से आत्मसमर्पण करता है, तो कृष्ण उसे अपने ही समान समझकर स्वीकार कर लेते हैं।"

दीक्षा की व्याख्या श्रील जीव गोस्वामी द्वारा *भक्तिसन्दर्भ* (८६८) में की गई है :

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम् ।
तस्माद् दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः ॥

"दीक्षा के द्वारा मनुष्य में क्रमशः भौतिक भोग के प्रति अरुचि और आध्यात्मिक जीवन के प्रति रुचि उत्पन्न होती है।"

हमने इसके अनेक व्यावहारिक उदाहरण, विशेषतया यूरोप तथा अमरीका में देखे हैं। ऐसे अनेक छात्र हैं, जो धनी तथा सम्मानित परिवारों से हमारे पास आते हैं, उनमें बहुत जल्दी ही भौतिक भोग के प्रति रुचि का अभाव हो जाता है और आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने के लिए वे अत्यन्त उत्सुक हो जाते हैं। यद्यपि वे अत्यन्त धनी परिवारों से आते हैं, तो भी उनमें से अनेक ऐसी जीवन दशाओं का स्वीकार करते हैं, जो बहुत सुखदायी नहीं होतीं। निस्सन्देह, वे कृष्ण के लिए कोई भी जीवन दशा स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं, यदि वे मन्दिर में रह सकें तथा वैष्णवों की संगति कर सकें। जब कोई भौतिक भोग के प्रति इस प्रकार उदासीन हो जाता है, तब वह गुरु द्वारा दीक्षा पाने के लिए योग्य बन जाता है। आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए *श्रीमद्भागवत* (६.१.१३) की संस्तुति है—*तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च*—जब कोई व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करने के लिए गम्भीर होता है, तो उसे तपस्या, ब्रह्मचर्य एवं मन तथा शरीर पर संयम रखने के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि वह इस तरह तैयार है और आध्यात्मिक ज्ञान (*दिव्यं ज्ञानम्*) प्राप्त करने के लिए इच्छुक है, तो वह दीक्षा के लिए उपयुक्त होता है। *दिव्यं ज्ञानम्* का शास्त्रीय दृष्टि से *तद्विज्ञान* या परमेश्वर का ज्ञान कहा जाता है। *तद् विज्ञानार्थं स गुरुम्एवाभिगच्छेत्*—जब कोई परम सत्य के दिव्य विषय में रुचि दिखाता है, तो उसे

दीक्षा दी जानी चाहिए। ऐसे व्यक्ति को दीक्षा ग्रहण करने के लिए गुरु के पास पहुँचना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* (११.३.२१) में यह भी संस्तुति की गई है—*तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*—"जब कोई सचमुच ही परम सत्य के दिव्य ज्ञान में रुचि रखे, तो उसे आध्यात्मिक गुरु के पास जाना चाहिए।"

मनुष्य को चाहिए कि यदि वह गुरु के आदेशों का पालन न कर सके, तो वह गुरु स्वीकार न करे। न ही उसे आध्यात्मिक जीवन का दिखावा करने के लिए गुरु बनाना चाहिए। उसे प्रामाणिक गुरु से सीखने के लिए *जिज्ञासु* अर्थात् अत्यन्त उत्सुक रहना चाहिए। वह जो प्रश्न पूछे उसे दिव्य ज्ञान से सम्बन्धित होना चाहिए (*जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*)। *उत्तमम्* शब्द भौतिक ज्ञान से जो ऊपर हो, उसका द्योतक है। *तम* का अर्थ है, "इस भौतिक जगत का अंधकार" तथा *उत्* का अर्थ है,"दिव्य"। सामान्यतया लोग संसारी विषयों के प्रति जिज्ञासा प्रकट करने में अधिक रुचि लेते हैं, किन्तु जब किसी की यह रुचि जाती रहती है और वह केवल दिव्य विषयों में रुचि लेने लगता है, तो वह दीक्षा दिये जाने के लिए पूर्णतया योग्य है। जब कोई प्रामाणिक गुरु द्वारा सचमुच दीक्षित होता है और भगवान् की सेवा में गम्भीरता से लग जाता है, तो उसे मध्यम अधिकारी स्वीकार कर लेना चाहिए।

कृष्ण के पवित्र नामों का कीर्तन इतना उत्कृष्ट है कि यदि कोई दसों अपराधों से सावधानी से बचते हुए हरे कृष्ण महामन्त्र का जप करता है, तो वह क्रमशः ज्ञान के उस बिन्दु तक उन्नत हो

जाता है, जहाँ वह समझ सकता है कि भगवान् के पवित्र नाम तथा स्वयं भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। जो व्यक्ति इस ज्ञान को प्राप्त कर ले, उसका नवदीक्षित भक्तो के द्वारा अत्यधिक सम्मान होना चाहिए। उसे यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि निरपराध भाव से भगवन्नाम का कीर्तन किये बिना वह कृष्णभावनामृत में प्रगति के लिए सुयोग्य पात्र नहीं बन सकता। *श्रीचैतन्यचरितामृत* (मध्य २२.६९) में कहा गया है :

याहार कोमल श्रद्धा, से 'कनिष्ठ' जन।
क्रमे क्रमे तेतेंहो भक्त होईबे 'उत्तम'॥

"जिसकी श्रद्धा कोमल तथा अदृढ़ हो, वह नौसिखीया कहलाता है लेकिन इस विधि का क्रमशः पालन करते हुए वह प्रथम श्रेणी के भक्त के पद तक ऊपर उठ जाएगा।" प्रत्येक व्यक्ति अपने भक्तिजीवन का शुभारंभ नवदीक्षित अवस्था से करता है, किन्तु यदि वह हरिनाम जप की निर्धारित संख्या को ढंग से पूरा करता है, तो वह क्रमशः उत्तम अधिकारी के उच्चतम पद को प्राप्त करता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन नित्य सोलह माला जप करने की संस्तुति करता है, क्योंकि पाश्चात्य देशों के लोग माला पर अधिक काल तक जप करते हुए एकाग्र नहीं रह सकते। अतएव न्यूनतम संख्या में जप करने का निर्धारण किया गया है। किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहा करते थे कि जब तक कोई कम से कम चौंसठ माला (एक लाख नाम) जप न कर ले, तब तक उसे पतित माना जाना चाहिए। उनकी गणना

के अनुसार हम सब पतित जैसे हैं, किन्तु चूँकि हम परमेश्वर की सेवा पूरी गम्भीरता तथा छल-कपट के बिना करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, अतएव हमें परम पतितपावन श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा की आशा है।

जब श्रीचैतन्य महाप्रभु से महान् भक्त सत्यराज खान ने पूछा कि वैष्णव को किस तरह पहचानना चाहिए, तो महाप्रभु ने उत्तर दिया :

प्रभु कहे—"यार मुखे शुनि एक-बार ।
कृष्ण-नाम, सेइ पूज्य,—श्रेष्ठ सबाकार॥"

"यदि किसी व्यक्ति के मुख से एक बार भी 'कृष्ण' शब्द सुनाई पड़ जाये, तो उसे समस्त व्यक्तियों में से श्रेष्ठ व्यक्ति मान लेना चाहिए।" (चैतन्यचरितामृत, मध्य १५.१०६) भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने आगे कहा :

"अतएव याँर मुखे एक कृष्ण-नाम ।
सेइ तऽवैष्णव, करिह ताँहार सम्मान॥"

"जो कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन में अभिरुचि रखता है, या जो अभ्यासवश कृष्ण के नामों का कीर्तन करना पसन्द करता है, उसे वैष्णव के रूप में स्वीकार करना चाहिए और कम से कम मन से तो उसको सम्मान देना चाहिए।" (*चैतन्यचरितामृत मध्य १५.१११*)। हमारे एक मित्र जो प्रसिद्ध अंग्रेजी संगीतकार हैं, कृष्ण के पवित्र नामों के कीर्तन के प्रति आकृष्ट हो गए हैं, यहाँ तक कि उन्होंने अपने रिकार्डों में भी कृष्ण के पवित्र नाम

का अनेक बार उल्लेख किया है। वे अपने घर में कृष्ण के चित्रों को नमस्कार करते हैं और कृष्णभावनामृत के प्रचारकों का भी आदर करते हैं। सभी तरह से उनके मन में कृष्ण के नाम तथा कृष्ण की लीलाओं के प्रति उच्च आदरभाव है, अतएव हम बिना किसी संकोच के उन्हें सम्मान देते हैं, क्योंकि हम देख रहे हैं कि ये महाशय क्रमशः कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर हो रहे हैं। ऐसे व्यक्ति को सदा ही सम्मान दिया जाना चाहिए। निष्कर्ष यह निकलता है कि जो व्यक्ति पवित्र नाम का नियमित कीर्तन करते हुए कृष्णभावनामृत में प्रगति करने का प्रयास कर रहा हो, उसका सम्मान करना वैष्णवों का धर्म है। दूसरी ओर, हमने देखा है कि हमारे कुछ समकालिक जिनसे महान् उपदेशक होने की आशा की जाती है, वे क्रमशः देहात्म-बुद्धि की ओर गिर चुके है, क्योंकि वे भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने में असफल रहे हैं।

सनातन गोस्वामी को उपदेश देते समय भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भक्ति की तीन कोटियाँ बताईं :

शास्त्रयुक्ति नाहि जाने दृढ, श्रद्धावान् ।
'मध्यम अधिकारी' सेइ महा-भाग्यवान्॥

"जिस व्यक्ति का शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान पुष्ट नहीं है, किन्तु जिसने हरे कृष्ण महामन्त्र के कीर्तन में दृढ श्रद्धा उत्पन्न कर ली है तथा जो अपनी नियत भक्तिमय सेवा के सम्पादन में दृढ़ है, उसे मध्यम अधिकारी समझना चाहिए। ऐसा व्यक्ति अत्यन्त

भाग्यशाली होता है।" (*चैतन्यचरितामृत, मध्य* २२.६७) मध्यम अधिकारी दृढ़तापूर्वक श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति होता है और वास्तव में वही भक्ति की भावी प्रगति का पात्र होता है। अतएव *चैतन्यचरितामृत* (मध्य २२.६४) में कहा गया है :

श्रद्धावान् जन हय भक्ति-अधिकारी ।
'उत्तम,' 'मध्यम,' 'कनिष्ठ'—श्रद्धा-अनुसारी ॥

"मनुष्य श्रद्धा के विकास के अनुसार ही भक्ति के प्रारम्भिक पद, मध्यम पद तथ उच्चतम पद पर भक्त बनने के लिए योग्य बनता है।" पुनः *चैतन्यचरितामृत* (मध्य २२.६२) में कहा गया है :

'श्रद्धा' शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कइले सर्व कर्म कृत हय ॥

'कृष्ण की दिव्य सेवा करके मनुष्य स्वतः सारे आनुषंगिक कार्य सम्पन्न करता है।' यह दृढ़ विश्वास जो भक्तिमय सेवा करते रहने के अनुकूल होता है, श्रद्धा कहलाता है। श्रद्धा अर्थात् कृष्ण में विश्वास कृष्णाभावनामृत का शुभारम्भ है। श्रद्धा का अर्थ है, प्रबल विश्वास। भगवद्गीता का कथन श्रद्धावान् मनुष्यों के लिए प्रामाणिक आदेश है और कृष्ण भगवद्गीता में जो कुछ भी कहते हैं, उसे यथारूप में बिना किसी विवेचन के स्वीकार करना चाहिए। अर्जुन ने भगवद्गीता को इसी प्रकार स्वीकार किया था। भगवद्गीता सुनने के बाद अर्जुन ने कृष्ण से कहा—

सर्वमेतद् ऋतं मन्ये यन्मां वदसि केशव—"हे कृष्ण, आपने मुझसे जो कुछ कहा है, उसे मैं पूर्णतया सत्य के रूप में स्वीकार करता हूँ।" (*भगवद्गीता* १०.१४) भगवद्गीता को समझने की यही सही विधि है और यही श्रद्धा कहलाती है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कोई व्यक्ति भगवद्गीता के कुछ अंश को अपने खुद के मनमाने ढंग से किये गये अर्थघटन के अनुसार स्वीकार करे और दूसरे अंश को रद्द कर दे। यह श्रद्धा नहीं है। श्रद्धा का अर्थ है, भगवद्गीता के आदेशों को पूर्ण रूप से स्वीकार करना और विशेष रूप से—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अर्थात् "सारे धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आ जाओ"—इस अंन्तिम उपदेश को स्वीकार करना। (*भगवद्गीता* १८.६६) जब मनुष्य इस आदेश के प्रति पूर्णतया श्रद्धावान् हो जाता है, तो उसकी यह दृढ़ श्रद्धा आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए आधारभूत बन जाती है।

जब मनुष्य हरे कृष्ण महामन्त्र के कीर्तन में पूरी तरह संलग्न रहने लगता है, तो उसे क्रमशः अपने आध्यात्मिक स्वरूप का बोध होता है। जब तक मनुष्य श्रद्धापूर्वक हरे कृष्ण मन्त्र का कीर्तन नहीं करता, तब तक कृष्ण अपने आप को प्रकट नहीं करते—*सेवान्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः* (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२३४) हम किसी कृत्रिम साधन से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते। हमें श्रद्धापूर्वक भगवान् की सेवा में लग जाना होगा। ऐसी सेवा जीभ से प्रारम्भ होती है (*सेवान्मुखे हि जिह्वादौ*) जिसका अर्थ यह है कि हमें

सदैव भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन करना चाहिए और कृष्ण-प्रसाद ग्रहण करना चाहिए। हमें न तो कोई अन्य कीर्तन करना चाहिए न प्रसाद के सिवा किसी अन्य वस्तु का स्वीकार करना चाहिए। जब इस विधि का श्रद्धापूर्वक पालन किया जाता है, तब भगवान् स्वयं ही भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं।

जब कोई व्यक्ति अपने आपको कृष्ण के सनातन सेवक के रूप में जान लेता है, तब वह कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त और किसी चीज में रुचि नहीं लेता। वह सदैव कृष्ण का चिन्तन करता हुआ, कृष्ण के पवित्र नाम के प्रसार हेतु साधनों की खोज करता हुआ सोचता है कि उसका एकमात्र कार्य विश्वभर में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करना है। एसे व्यक्ति को उत्तम अधिकारी मानना चाहिए ओर छह विधियों के अनुसार (*ददाति प्रतिगृह्णाति इत्यादि*) तुरन्त उसकी संगति स्वीकार करनी चाहिए। निस्सन्देह, प्रगत उत्तम अधिकारी वैष्णव भक्त को गुरु रूप में स्वीकार करना चाहिए। जो कुछ पास में हो उन्हें समर्पित करना चाहिए, क्योंकि यह आदेश है कि मनुष्य के पास जो कुछ भी हो, वह गुरु को दे दिया जाये। विशेषतया ब्रह्मचारी से आशा की जाती है कि वह अन्यो से भिक्षा माँगकर गुरु को प्रदान करे। किन्तु स्वरूपसिद्ध हुए बिना किसी को महाभागवत अर्थात् उन्नत भक्त के आचरण का अनुकरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसे अनुकरण से अन्ततः पतन होता है।

इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी भक्त को कम से कम इतना बुद्धिमान बनने के लिए उपदेश देते हैं जिससे वह कनिष्ठ, मध्यम

तथा उत्तम अधिकारी में अन्तर कर सके। भक्त को अपनी स्थिति भी जाननी चाहिए और किसी उच्च पद पर स्थित भक्त का अनुकरण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने कुछ व्यावहारिक संकेत दिये हैं— उत्तम अधिकारी वैष्णव को उसके इस सामर्थ्य के आधार पर पहचाना जा सकता है कि वह अनेक पतितात्माओं को वैष्णव मत में बदल देता है। जब तक कोई उत्तम अधिकारी का पद प्राप्त न कर ले, तब तक उसे गुरू नहीं बनना चाहिए। एक नवदीक्षित वैष्णव या मध्यावस्था पद को प्राप्त वैष्णव भी शिष्य बना सकता है, लेकिन ऐसे शिष्यों को उसी स्तर का होना चाहिए और यह जान लेना चाहिए कि उसके अपर्याप्त मार्गदर्शन में ऐसे शिष्य जीवन के चरम लक्ष्य की ओर ठीक से प्रगति नहीं कर सकते। अतएव शिष्य को सतर्क रहना चाहिए कि गुरु के रूप में उत्तम अधिकारी को ही स्वीकार करे। ●

श्लोक ६

दृष्टैः स्वभावजनितैर्वपुषश्च दोषै-
र्न प्राकृतत्वमिह भक्तजनस्य पश्येत्।
गङ्गाम्भसां न खलु बुद्बुदफेनपङ्कै -
र्ब्रह्मद्रवत्वमपगच्छति नीरधर्मैः ॥ ६ ॥

दृष्टैः—सामान्य दृष्टि से देखा गया; **स्वभाव जनितैः**—किसी के निजी स्वभाव से उत्पन्न; **वपुषः**—शरीर का; **च**—तथा; **दोषैः**—दोषों से; **न**—नहीं; **प्राकृतत्वम्**—भौतिक होने की अवस्था, भौतिकता; **इह**—इस संसार में; **भक्त-जनस्य**—शुद्ध भक्त की; **पश्येत्**—उसे देखना चाहिए; **गङ्गा-अम्भसाम्**—गंगाजल का; **न**—नहीं; **खलु**—निश्चय ही; **बुद्बुदफेन-पङ्कैः**—बुलबुलों, झाग तथा कीचड़ से; **ब्रह्म-द्रवत्वम्**—दिव्य प्रकृति; **अपगच्छति**—नष्ट होती है; **नीर-धर्मैः**—जल के गुणधर्मों से।

अनुवाद

अपनी मूल कृष्णभावनाभावित स्थिति में रहते हुए शुद्ध भक्त अपने आप को शरीर नहीं मानता है। ऐसे भक्त को भौतिकतावादी दृष्टिकोण से नहीं देखा जाना चाहिए। निस्सन्देह, भक्त के निम्नकुल में उत्पन्न होने, उसके कुरूप चेहरे, विकृत शरीर या रोगी अथवा अशक्त शरीर की परवाह नहीं करनी चाहिए। साधारण दृष्टि से ऐसे दोष शुद्ध भक्त के शरीर में प्रकट दिख सकते हैं, लेकिन इन सब दिखने वाले दोषों के बावजूद शुद्ध भक्त का शरीर कभी दूषित नहीं हो सकता। यह ठीक गंगाजल के समान है, जो कभी-कभी वर्षाऋतु में बुद्बुदे, फेन तथा कीचड़ से पूरित हो जाता है, किन्तु कभी दूषित नहीं होता। अतएव जो लोग आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नत हैं, वे जल की अवस्था का विचार किये बिना गंगा में स्नान करेंगे।

तात्पर्य

शुद्ध भक्ति जो कि आत्मा की क्रिया है—दूसरे शब्दों में, भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा मुक्त अवस्था में सम्पन्न की जाती है। भगवद्गीता (१४.२६) में कहा गया है :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतित्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्ण भक्ति में संलग्न रहता है, जिसका किसी भी परिस्थिति में पतन नहीं होता, वह तुरन्त भौतिक प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्मपद को प्राप्त करता है।"

अव्यभिचारिणी भक्ति का अर्थ है, अनन्य भक्ति। भक्तिमय सेवा में रत मनुष्य को भौतिक इच्छाओं से मुक्त होना चाहिए। इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन में मनुष्य की चेतना में बदलाव आवश्यक है। यदि चेतना को भौतिक भोग की ओर लक्षित किया जाता है, तो वह भौतिक चेतना है और यदि उसे कृष्ण की सेवा की ओर लक्षित किया जाता है, तो वह कृष्णभावनामृत है। शरणागत व्यक्ति बिना भौतिक विचार के ही कृष्ण की सेवा करता है—(*अन्याभिलाषिताशून्यम्*)। *ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*—अनन्य भक्ति जो शरीर तथा मन के कार्यों से यथा ज्ञान एवं कर्म से परे है, शुद्ध भक्तियोग कहलाती है। भक्तियोग आत्मा की सही सक्रियता है और जब मनुष्य वास्तव में अनन्य, शुद्ध भक्तिमय सेवा में संलग्न हो जाता है, तो वह पहले से ही मुक्त रहता है (*स गुणान् समतीत्यैतान्*)। कृष्ण का भक्त कभी भौतिक

दशा से बँधता नहीं, भले ही शरीर से वह भौतिक रूप में बद्ध लगे। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह शुद्ध भक्त को भौतिकतावादी दृष्टिकोण से न देखे। जब तक कोई वास्तव में भक्त नहीं होता, तब तक वह दूसरे भक्त को ठीक से पहचान नहीं पाता। जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है, भक्त तीन प्रकार के होते हैं—कनिष्ठ अधिकारी, मध्यम अधिकारी तथा उत्तम अधिकारी। कनिष्ठ अधिकारी भक्त तथा अभक्त में अन्तर नहीं कर पाता। उसे तो केवल मंदिर में केवल अर्चाविग्रह के पूजन से प्रयोजन रहता है। किन्तु मध्यम अधिकारी भक्त तथा अभक्त में और भक्त तथा भगवान् में अन्तर कर सकता है। इस तरह वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, भक्त तथा अभक्त के साथ भिन्न-भिन्न आचरण करता है।

किसी को शुद्ध भक्त के शारीरिक दोषों की आलोचना नहीं करनी चाहिए। यदि ऐसे दोष हों भी, तो उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। जिस बात पर ध्यान देना चाहिए वह है शुद्ध भक्ति या परमेश्वर के प्रति शुद्ध सेवा और यह गुरु का मुख्य कार्य है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३०) में कहा गया है :

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥

यदि कोई भक्त कभी घृणित कर्म करता प्रतीत हो भी, तब भी उसे साधु समझना चाहिए, क्योंकि उसकी वास्तविक पहचान तो यह है कि वह भगवान् की प्रेममयी सेवा में लगा हुआ है। दूसरे

शब्दों में, उसे सामान्य व्यक्ति नहीं समझना चाहिए।

शुद्ध भक्त भले ही ब्राह्मण या गोस्वामी परिवार में न जन्मा हो, किन्तु यदि वह भगवान् की सेवा में लगा रहता है, तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। वास्तव में जाति या वंश परम्परा जैसी भौतिक बातों पर आधारित गोस्वामी परिवार नहीं हो सकता। गोस्वामी उपाधि तो शुद्ध भक्तों का एकाधिकार है। इस प्रकार हम छः गोस्वामियों की बातें करते हैं, जिनमें रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी प्रमुख हैं। वे एक प्रकार से मुसलमान बन चुके थे। अतएव उन्होंने अपना नाम दबिरखास तथा साकरमल्लिक रख लिया था, लेकिन श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्वयं उन्हें गोस्वामी बनाया। अतएव गोस्वामी उपाधि वंशागत नहीं है। गोस्वामी शब्द उस व्यक्ति का सूचक है, जो अपनी इन्द्रियों को वश में रख सके, जो इन्द्रियों का स्वामी हो। भक्त इन्द्रियों के वश में नहीं होता, वह तो इन्द्रियों का नियामक होता है। फलस्वरूप उसे स्वामी या गोस्वामी कहा जाना चाहिए, भले ही वह गोस्वामी परिवार में उत्पन्न न हुआ हो।

इस सूत्र के अनुसार जो गोस्वामी श्री नित्यानन्द प्रभु तथा श्री अद्वैत प्रभु के वंशज हैं, वे निश्चित रूप से भक्त हैं, लेकिन जो भक्त अन्य परिवारों से सम्बन्धित हैं, उनमे भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। निस्सन्देह, भक्त चाहे पूर्व आचार्यों के परिवार के हों या किसी सामन्य परिवार के हों, उन्हें एकसमान माना जाना चाहिए। किसी को यह सोचकर कि "ओह! यह अमरीकी गोस्वामी है।" उसके साथ भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। न ही यह सोचना

चाहिए कि यह नित्यानन्द वंशज गोस्वामी है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के अमरीकी वैष्णवों को गोस्वामी उपाधि दिये जाने पर भीतर ही भीतर विरोध की धारा चल रही है। कभी-कभी लोग अमरीकी भक्तों से सीधा कह बैठते हैं कि उनका संन्यास या उनकी गोस्वामी उपाधि प्रामाणिक नहीं है। किन्तु श्रील रूप गोस्वामी के इस श्लोक के अनुसार अमरीकी गोस्वामी तथा आचार्य कुल के गोस्वामी अभिन्न हैं।

दूसरी ओर जिस भक्त को गोस्वामी की उपाधि प्राप्त हुई हो, किन्तु उसका पिता ब्राह्मण नहीं है या वह नित्यानन्द या अद्वैत प्रभु के गोस्वामी परिवार में उत्पन्न नहीं हुआ हो, तो उसे यह सोचकर झूठे गर्वित नहीं होना चाहिए कि वह गोस्वामी बन गया है। उसे यह सदैव स्मरण में रखना चाहिए कि ज्योंही वह भौतिक दृष्टि से गर्वित हो उठता है, उसका पतन हो जाता है। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन एक दिव्य विज्ञान है और इसमें ईर्ष्या या द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं है। यह आन्दोलन उन परमहंसों के लिए है, जो समस्त द्वेषों से रहित हैं (*परमं निर्मित्सराणाम्*)। मनुष्य को यह ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए कि वह गोस्वामी परिवार में उत्पन्न हुआ है या उसे गोस्वामी की उपाधि प्रदान की गई है। ज्योंही कोई ईर्ष्या करता है, वह परमहंस के पद से गिर जाता है।

यदि हम वैष्णव के शारीरिक दोषों पर ध्यान देते हैं, तो यह समझ लीजिये कि हम वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध कर रहे हैं। वैष्णव के चरणकमलों पर किया गया अपराध अत्यन्त

गम्भीर होता है। निस्सन्देह, श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस अपराध को *हाती-माता* अर्थात् उन्मत्त हाथी का अपराध कहा है। एक उन्मत्त हाथी विनाश कर सकता है, विशेष रूप से जब वह सुन्दर कटे-छटे उद्यान में प्रवेश कर जाता है। अतएव मनुष्य को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए कि उससे किसी वैष्णव के प्रति अपराध न हो। प्रत्येक भक्त को श्रेष्ठ वैष्णव से उपदेश ग्रहण करने के लिए तैयार रहना चाहिए और श्रेष्ठ वैष्णव को कनिष्ठ वैष्णव की सभी तरह से सहायता करने के लिए तैयार रहना चाहिए। कृष्ण-भावनामृत में अपने आध्यात्मिक विकास के अनुसार ही कोई किसी से श्रेष्ठ या निकृष्ट होता है। मनुष्य को भौतिक दृष्टि से शुद्ध वैष्णव के कार्य देखना वर्जित है। विशेष रूप से नवदीक्षित द्वारा शुद्ध भक्त को भौतिक दृष्टि से देखा जाना अत्यन्त हानिप्रद है। अतएव शुद्ध भक्त का बाहरी स्वरूप नहीं देखना चाहिए अपितु उसके आन्तरिक गुण देखने चाहिए और यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि वह भगवान् की प्रेमाभक्ति में किस तरह लगा हुआ है। इस प्रकार शुद्ध भक्त को भौतिक दृष्टि से देखने से बचा जा सकता है और इस तरह कोई मनुष्य स्वयं भी धीरे-धीरे शुद्ध भक्त बन सकता है।

जो लोग कृष्णभावनामृत को किसी विशेष वर्ग के लोगों, किसी विशेष वर्ग के भक्तों या किसी विशेष भूखण्ड तक ही सीमित मानते हैं, वे सामान्यतया भक्त के बाह्य लक्षणों को देखने के आदी होते हैं। ऐसे नौसिखीये उन्नत भक्त की उत्कृष्ट सेवा को न समझ सकने के कारण, महाभागवत को अपने जैसे स्तर पर

ले आने का प्रयत्न करते हैं। इस कृष्णभावनामृत का संसार भर में प्रसार करने में हमें ऐसी कठिनाई का अनुभव होता है। दुर्भाग्यवश हम ऐसे नवदीक्षित गुरु-भाईयों से घिरे हुए हैं, जो विश्वभर में कृष्णभावनामृत को प्रसारित करने के असाधारण कार्य को नहीं समझ पाते। वे केवल हमें अपने स्तर पर लाने का प्रयत्न करते हैं और सभी प्रकार से हमारी आलोचना करने का प्रयास करते हैं। हमें उनके इन प्राकृत कार्यो एवं उनके अल्पज्ञान पर तरस आता है। एक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति जो भगवान् की गोपनीय सेवा में वास्तव में संलग्न है, उसे सामन्य व्यक्ति नहीं समझना चाहिए, क्योंकि यह कहा जाता है कि जब तक कोई कृष्ण द्वारा शक्तिप्रदत्त न हो, तब तक वह सारे संसार में कृष्णभावनामृत आंदोलन का प्रसार नहीं कर सकता।

जब कोई इस प्रकार से शुद्ध भक्त की आलोचना करता है, तो वह अपराध करता है (*वैष्णव अपराध*) जो उन लोगों के लिए अत्यन्त बाधक एवं घातक है, जो कृष्णभावनामृत में प्रगति करने के इच्छुक हैं। जब व्यक्ति वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करता है, वह कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं उठा सकता। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को सतर्क रहना चाहिए कि वह शक्तिसम्पन्न वैष्णव या शुद्ध वैष्णव के प्रति ईर्ष्यालु न हो। इसी तरह शक्तिसम्पन्न वैष्णव पर किसी प्रकार की अनुशासनात्मक कार्यवाही का सोचना भी अपराध है। उसे उपदेश देना या उसकी त्रुटियों में सुधार करने का प्रयास करना अपराधपूर्ण है। नवदीक्षित वैष्णव तथा प्रगत वैष्णव में उनके कार्यों के आधार पर अन्तर

किया जा सकता है। प्रगत वैष्णव सदैव गुरु पद पर स्थित होता है और नवदीक्षित सदैव उसका शिष्य माना जाता है। न तो शिष्य गुरु को उपदेश दे, न ही गुरु ऐसे व्यक्तियों का उपदेश ग्रहण करे जो उसके शिष्य नहीं हैं। इस छठे श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी के उपदेश का यही सार है। •

श्लोक ७

स्यात्कृष्णनामचरितादिसिताप्यविद्या-
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिका नु ।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा
स्वाद्वी क्रमाद्भवति तद्गदमूलहन्त्री ॥ ७ ॥

स्यात्—है; **कृष्ण**—भगवान् कृष्ण का; **नाम**—पवित्र नाम; **चरित-आदि**—चरित्र, लीलाएँ इत्यादि; **सिता**—मिश्री; **अपि**—यद्यपि; **अविद्या**—अज्ञान का; **पित्त**—पित्त से; **उपतप्त**—पीड़ित; **रसनस्य**—जीभ की; **न**—नहीं; **रोचिका**—स्वादिष्ट; **नु**—अहा, कितना विचित्र है यह; **किन्तु**—लेकिन; **आदरात्**—सावधानीपूर्वक; **अनुदिनम्**—प्रत्येक दिन या अहर्निश; **खलु**—स्वभावतः; **सा**—वह (पवित्र नाम रूपी मिश्री); **एव**—निश्चय ही; **जुष्टा**—ग्रहण की गई या उच्चरित; **स्वाद्वी**—स्वादिष्ट; **क्रमात्**—क्रमशः; **भवति**—हो जाती है; **तत्-गद**—उस रोग की; **मूल**—जड़; **हन्त्री**—नष्ट करने वाली।

अनुवाद

कृष्ण का पवित्र नाम, चरित्र, लीलाएँ तथा कार्यकलाप सभी मिश्री के समान आध्यात्मिक रूप से मधुर हैं। यद्यपि अविद्या रूपी पीलिया रोग से ग्रस्त रोगी की जीभ किसी भी मीठी वस्तु का स्वाद नहीं ले सकती, लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि इन मधुर नामों का नित्य सावधानीपूर्वक कीर्तन करने से उसकी जीभ में प्राकृतिक स्वाद जागृत हो उठता है और उसका रोग धीरे-धीरे समूल नष्ट हो जाता है।

तात्पर्य

भगवान् कृष्ण का पवित्र नाम, उनके गुण, लीलाएँ इत्यादि सच्चिदानंद स्वरूप हैं। अतएव स्वभावत: वे सबों को प्रिय लगने वाली मिश्री के समान अत्यन्त मधुर हैं। किन्तु अज्ञान की तुलना पीलिया रोग से की गई है, जो पित्त के स्राव से उत्पन्न होता है। पीलिया से ग्रस्त रोगी की जीभ मिश्री का स्वाद नहीं ले पाती। अपितु पीलिया के रोगी को मीठी वस्तु कड़वी लगती है। इसी प्रकार से *अविद्या* (अज्ञान) भगवान् कृष्ण के दिव्य सुस्वादु नाम, गुण, रूप तथा लीलाओं का आस्वाद लेने की शक्ति को विकृत कर देती है। इस रोग के होते हुए भी यदि कोई अत्यन्त सावधानी एवं ध्यान के साथ कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करते हुए तथा उनकी दिव्य लीलाओं का श्रवण करते हुए कृष्णभावनामृत को स्वीकार करता है, तो उसकी अविद्या नष्ट हो जाएगी और उसकी जीभ भगवान् की दिव्य प्रकृति तथा उनके साज-सामान का मधुर

आस्वाद प्राप्त करने में समर्थ हो जाएगी। इस प्रकार का आध्यात्मिक स्वास्थ्य-लाभ कृष्णभावनामृत के नियमित अनुशीलन द्वारा ही सम्भव हो पाता है।

इस भौतिक जगत में जब कोई कृष्णभावनामृत की अपेक्षा भौतिक जीवन शैली में अधिक रुचि लेता है, तो वह रुग्ण अवस्था में है ऐसा समझा जाता है। सहज अवस्था तो भगवान् का सनातन दास बने रहना है (*जीवरे 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*)। यह स्वस्थ अवस्था तब चली जाती है, जब जीव कृष्ण की माया शक्ति के बाह्य गुणों से आकर्षित होकर कृष्ण को भूल जाता है। यह माया का संसार *दुराश्रय* कहलाता है, जिसका अर्थ है, "मिथ्या या बुरी शरण।" जो *दुराश्रय* में श्रद्धा रखता है, उसे निराशा ही प्राप्त होती है। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति सुखी होने का प्रयास करता है और यद्यपि उसके प्रयास सभी तरह से विफल होते हैं, किन्तु अविद्या के कारण वह अपनी त्रुटियों को समझ नहीं पाता। लोग एक त्रुटि को दूसरी त्रुटि से सुधारना चाहते हैं। इस जगत में अस्तित्व टिकाए रखने के लिए संघर्ष करने की यही रीति है। यदि ऐसी अवस्था में किसी को कृष्णभावनामृत ग्रहण करके सुखी होने की सलाह दी जाती है, तो वह ऐसे उपदेशों को स्वीकार नहीं करता।

यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन सारे विश्व में इसी निपट अज्ञान को दूर करने के लिए प्रसारित किया जा रहा है। सामान्य जनता अंधे नेताओं द्वारा गुमराह की जाती है। मानव समाज के नेता—चाह वे राजनीतिज्ञ हों, दार्शनिक हों या विज्ञानी—अंधे हैं क्योंकि

वे कृष्णभावनाभावित नहीं हैं। भगवद्गीता के मतानुसार, चूँकि वे नास्तिक जीवन शैली के कारण समस्त वास्तविक ज्ञान से वंचित रहते हैं, अतएव वे वास्तविक धूर्त और मनुष्यों में अधम हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

"जो धूर्त मनुष्यों में अधम, निपट मूर्ख हैं, जिनका ज्ञान मोह के द्वारा अपहृत हो चुका है और जो असुरों का नास्तिकतावादी स्वभाव धारण किये हैं, वे मेरी शरण में नहीं आते।" (*भगवद्गीता* ७.१५)

ऐसे लोग कभी भी कृष्ण की शरण में नहीं आते और जो कृष्ण की शरण में जाने के इच्छुक हैं, उनका वे विरोध करते हैं। जब ऐसे नास्तिक लोग समाज के नायक बन जाते हैं, तो सारा वातावरण अविद्या से भर जाता है। ऐसी दशा में लोग इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन का उत्साहपूर्वक स्वागत नहीं कर पाते, जिस तरह कि पीलिया रोग से पीड़ित रोगी मिश्री के स्वाद का आनन्द नहीं ले पाता। किन्तु मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि मिश्री ही पीलिया की एकमात्र विशिष्ट औषधि है। इसी प्रकार मानवता की वर्तमान दिग्भ्रमित अवस्था में कृष्णभावनामृत ही विश्व को ठीक करने की एकमात्र औषधि है, जिसमें भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन किया जाता है।

यद्यपि कृष्णभावनामृत रुग्ण व्यक्ति के लिए अत्यन्त रोचक नहीं लगता, फिर भी श्रील रूप गोस्वमी की सलाह है कि यदि कोई भवरोग से अच्छा होना चाहता है, तो उसे इस कृष्णभावनामृत को बड़ी ही सावधानी से तथा ध्यानपूर्वक ग्रहण करना होगा। मनुष्य के रोग का उपचार हरे कृष्ण महामन्त्र के कीर्तन से प्रारम्भ होता है, क्योंकि भगवान् के इस पवित्र नाम के कीर्तन से भौतिक दशा में मनुष्य सारी भ्रान्त धारणाओं से मुक्त हो जाएगा (*चेतो दर्पणमार्जनम्*)। *अविद्या*, जो मनुष्य की आध्यात्मिक पहचान की भ्रान्त धारणा है, अहंकार को जन्म देती है।

असली रोग तो हृदय में रहता है। किन्तु यदि मन स्वच्छ किया जाता है, यदि चेतना शुद्ध की जाती है, तो भवरोग से व्यक्ति को हानि नहीं हो सकती। मन तथा हृदय को समस्त भ्रान्त धारणाओं से स्वच्छ करने के लिए मनुष्य को हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन अपनाना चाहिए। यह सरल है और लाभकारी भी है। भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन से मनुष्य तुरन्त ही भौतिक अस्तित्व रूपी प्रज्ज्वलित अग्नि से मुक्त हो जाता है।

भगवान् के पवित्र नाम कीर्तन में तीन अवस्थाएँ हैं—अपराधपूर्ण अवस्था, अपराधों को कम करने की अवस्था तथा शुद्ध अवस्था। जो नवदीक्षित हरे कृष्ण मन्त्र का कीर्तन प्रारम्भ करता है, तो सामान्य रूप से वह अनेक अपराध करता है। इनमें से दस अपराध प्रमुख हैं और यदि भक्त इनसे बचा रहता है, तो उसे अगली अवस्था के दर्शन होते हैं, जो अपराधपूर्ण कीर्तन तथा शुद्ध कीर्तन के बीच की अवस्था है। जब कोई शुद्ध अवस्था को

पा लेता है, तो वह तुरन्त मुक्त हो जाता है। यही *भवमहादावाग्निनिर्वापणम्* कहलाता है। ज्योंही मनुष्य भौतिक अस्तित्व रूपी प्रज्ज्वलित अग्नि से मुक्त हो जाता है, त्योंही वह दिव्य जीवन का रसास्वादन कर सकता है।

सारांश यह है कि भवरोग से मुक्त होने के लिए मनुष्य को हरे कृष्ण मन्त्र का कीर्तन अपनाना चाहिए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन विशेषतया ऐसा वातावरण उत्पन्न करने के लिए है, जिसमें लोग हरे कृष्ण मन्त्र का कीर्तन कर सकें। मनुष्य को श्रद्धा के साथ शुभारम्भ करना चाहिए और जब कीर्तन करने से यह श्रद्धा बढ़ जाती है, तब वह इस संघ का सदस्य बन सकता है। हम लोग सारे विश्व में संकीर्तन मंडलियाँ भेजते हैं और इन मंडलियों का अनुभव है कि विश्व के उन सुदूरतम भागों में, जहाँ कृष्ण का किसी को ज्ञान तक नहीं है, हरे कृष्ण महामन्त्र हजारों व्यक्तियों को हमारे पड़ाव में आकृष्ट करता है। कुछ भागों में तो इस मन्त्र को कुछ दिनों तक सुनने के बाद लोग सिर मुँडाकर तथा हरे कृष्ण महामन्त्र का संकीर्तन करके भक्तों की नकल करने लगते हैं। भले ही यह नकल मात्र हो, लेकिन अच्छी वस्तु का अनुकरण वांछनीय है। अनुकरण करने वाले कुछेक लोग क्रमशः गुरु द्वारा दीक्षित होना चाहते हैं और दीक्षा के लिए स्वयं को प्रस्तुत करते हैं।

यदि कोई निष्ठावान हुआ, तो उसको दीक्षा दी जाती है और यह अवस्था *भजन-क्रिया* कहलाती है। तब वह धीरे-धीरे हरे कृष्ण महामन्त्र का प्रतिदिन सोलह माला जप करके और अवैध

मैथुन, मादक द्रव्य, मांसाहार तथा द्यूत क्रीड़ा से अपने को दूर रख कर भगवान् की भक्ति में सचमुच लग जाता है। भजन-क्रिया से मनुष्य भैतिकतावादी जीवन के कल्मष से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। तब वह न तो किसी होटल या भोजनालय में मांस तथा प्याज से बने तथाकथित स्वादिष्ट व्यंजन खाने जाता है, न ही वह धूम्रपान करने या चाय अथवा कॉफी पीने की परवाह करता है। वह न केवल अवैध मैथुन से दूर रहता है, अपितु मैथुन-जीवन से पूर्णतः बचता है और न ही वह अपना समय तर्क-वितर्क करने या द्यूत क्रीड़ा में बर्बाद करता है। इस तरह से यह समझना चाहिए कि वह अवांछित वस्तुओं से शुद्ध हो रहा है (*अनर्थ निवृत्तिः*)। *अनर्थ* शब्द अवांछित वस्तुओं का द्योतक है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित होते ही सारे अनर्थ नष्ट हो जाते हैं।

जब मनुष्य अवांछित वस्तुओं (अनर्थों) से मुक्त हो जाता है, तो वह अपने कृष्ण-कार्यों को सम्पन्न करने में स्थिर हो जाता है। वास्तव में वह ऐसे कार्यों में आसक्त होकर भक्ति करने में उल्लास का अनुभव करता है। यह *भाव* कहलाता है—भगवान् के सुप्त प्रेम का प्रारम्भिक उन्मेष। इस तरह बद्धजीव भौतिक अस्तित्व से मुक्त हो जाता है और भौतिक ऐश्वर्य, भौतिक ज्ञान तथा समस्त प्रकार के भौतिक आकर्षणों समेत देहात्मबुद्धि से रहित हो जाता है। ऐसे समय में मनुष्य समझ सकता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कौन हैं और उनकी माया क्या है।

एक बार *भाव* दशा प्राप्त हो जाने पर माया भक्त को विचलित

नहीं कर पाती, यद्यपि माया विद्यमान होती है। इसका कारण यह है कि भक्त माया की वास्तविक स्थिति का दर्शन कर सकता है। माया का अर्थ है, कृष्ण का विस्मरण और कृष्ण का विस्मरण तथा कृष्णभावनामृत, प्रकाश तथा छाया की भाँति पास-पास रहते हैं। यदि काई छाया में रहता है, तो वह प्रकाश द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का लाभ नहीं उठा पाता और यदि वह प्रकाश में रहता है, तो वह छाया के अंधकार से विचलित नहीं हो सकता। कृष्णभावनामृत अपनाने से मनुष्य क्रमशः मुक्त हो जाता है और प्रकाश में आ जाता है। निस्सन्देह, वह अंधकार का स्पर्श तक नहीं करता। जैसाकि *चैतन्यचरितामृत* (मध्य २२.३१) में पुष्टि हुई है :

कृष्ण—सूर्यसम; माया हय अन्धकार ।
याहाँ कृष्ण ताहाँ नाहि मायार अधिकार ॥

"कृष्ण की तुलना सूर्यप्रकाश से की गई है और माया की तुलना अंधकार से। जहाँ धूप होती है वहाँ अंधकार नहीं रहता। ज्योंही मनुष्य कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, माया का अंधकार अर्थात् बहिरंगा शक्ति का प्रभाव तुरन्त ही लुप्त हो जाता है।" •

श्लोक ८

तन्नामरूपचरितादिसुकीर्तनानु-
स्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागि जनानुगामी
कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम् ॥८॥

तत्—भगवान् कृष्ण का; **नाम**—पवित्र नाम; **रूप**—स्वरूप; **चरित-आदि**—चरित्र, लीलाएँ आदि; **सु-कीर्तन**—चर्चा करने या उत्तम रीति से कीर्तन करने में; **अनुस्मृत्योः**—तथा स्मरण करने में; **क्रमेण**—धीरे-धीरे; **रसना**—जीभ; **मनसी**—तथा मन; **नियोज्य**—लगाकर; **तिष्ठन्**—रहते हुए; **व्रजे**—व्रज में; **तत्**—भगवान् कृष्ण को; **अनुरागि**—अनुरक्त; **जन**—व्यक्ति; **अनुगामी**—पीछे-पीछे चलते हुए; **कालम्**—काल या समय को; **नयेत्**—उपयोग करना चाहिए; **अखिलम्**—पूर्ण; **इति**—इस प्रकार; **उपदेश**—उपदेश का; **सारम्**—सार, मूल तत्त्व।

अनुवाद

समस्त उपदेशों का सार यही है कि मनुष्य अपना पूरा समय—चौबीसों घण्टे—भगवान् के दिव्य नाम, दिव्य रूप, गुणों तथा नित्य लीलाओं का सुन्दर ढंग से कीर्तन तथा स्मरण करने में लगाए, जिससे उसकी जीभ तथा मन क्रमशः व्यस्त रहें। इस तरह उसे व्रज (गोलोक वृन्दावन धाम) में निवास करना चाहिए और भक्तों के मार्गदर्शन में कृष्ण की सेवा करनी चाहिए। मनुष्य को भगवान् के उन प्रिय भक्तों के पदचिह्नों का अनुगमन करना चाहिए, जो उनकी भक्ति में प्रगाढ़ता से अनुरक्त हैं।

तात्पर्य

चूँकि मनुष्य का मन उसका शत्रू या तो मित्र हो सकता है, अतएव उसे मन को अपना मित्र बनाने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन विशेष रूप से मन को प्रशिक्षित करने के लिए है, जिससे वह सदैव कृष्ण के कार्य में लगा रहे। मन में सैंकड़ों हजारों संस्कार हैं, जो न केवल इस जन्म के हैं, अपितु विगत अनेकानेक जन्मों के भी हैं। कभी-कभी ये संस्कार एक दूसरे के सम्पर्क में आकर विरोधी चित्र उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार मन का कार्य बद्धजीव के लिए खतरनाक बन सकता है। मनोविज्ञान के विद्यार्थी मन के विविध मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों से भलीभाँति परिचित हैं। भगवद्गीता (८.६) में यह कहा गया है :

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

"अपना शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस जिस दशा का स्मरण करता है, वह दशा उसे अवश्य प्राप्त होगी।"

मृत्यु के समय जीव के मन तथा बुद्धि अगले जीवन के लिए एक विशेष प्रकार के सूक्ष्म स्वरूप वाले शरीर का निर्माण करते हैं। यदि मन सहसा ऐसी वस्तु के सम्बन्ध में सोचता है, जो हितकर नहीं है, तो उसे अगले जन्म में उसी के अनुसार जन्म लेना पड़ता है। दूसरी ओर, यदि कोई मृत्यु के समय कृष्ण का चिन्तन करता है, तो वह गोलोक वृन्दावन नामक वैकुण्ठ लोक

को भेज दिया जाता है। देहान्तर की यह विधि अत्यन्त सूक्ष्म होती है, अतएव श्रील रूप गोस्वामी भक्तों को अपने मनों को प्रशिक्षित करने का उपदेश देते हैं, जिससे वे कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ भी स्मरण न रख सकें। इसी प्रकार जीभ को केवल कृष्ण के विषय में बोलने के लिए और केवल कृष्ण-प्रसाद चखने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। श्रील रूप गोस्वामी आगे सलाह देते हैं—*तिष्ठन् व्रजे*—मनुष्य को वृन्दावन में या व्रजभूमि के किसी भी भाग में रहना चाहिए। व्रजभूमि चौरासी क्रोश के क्षेत्रफल तक मानी जाती है। एक क्रोश दो वर्ग मील के बराबर होता है। जब मनुष्य वृन्दावन को अपना आवास बनाता है, तो उसे वहाँ किसी समुन्नत भक्त की शरण ग्रहण करनी चाहिए। इस तरह मनुष्य को कृष्ण तथा उनकी लीलाओं के ही विषय में सोचना चाहिए। इसकी और अधिक व्याख्या श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत-सिन्धु* (१.२.२९४) में की गई है :

कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत् तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥

"भक्त को सदैव व्रज के दिव्य क्षेत्र में निवास करना चाहिए और सदैव *कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठम्* अर्थात् श्रीकृष्ण तथा उनके प्रिय पार्षदों के स्मरण में लगना चाहिए। ऐसे पार्षदों के पदचिह्नों पर चलकर और उनके नित्य पथ-निर्देशन में आश्रय लेकर भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए प्रबल इच्छा प्राप्त कर सकता है।"

पुनः श्रील रूप गोस्वामी *भक्तिरसामृत-सिन्धु* (१.२.२९५) में कहते हैं :

सेवा साधक रूपेण सिद्ध रूपेण चात्र हि ।
तद्भाव लिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः ॥

"व्रज के दिव्य क्षेत्र (व्रज धाम) में मनुष्य को परमेश्वर श्रीकृष्ण की सेवा भगवान् के पार्षदों की सी भावना से करनी चाहिए और उसे अपने आप को कृष्ण के किसी विशेष संगी के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन के अन्तर्गत रखकर उसके पदचिह्नों पर चलना चाहिए। यह विधि *साधन* (बन्धन की अवस्था में सम्पन्न किया जाने वाला आध्यात्मिक अभ्यास) तथा *साध्य* (भगवत् साक्षात्कार) दोनों ही अवस्थाओं में लागू होती है, जब कोई सिद्ध-पुरुष अर्थात् आध्यात्मिक रूप से पूर्ण आत्मा होता है।"

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक पर निम्न प्रकार से टीका दी है—"जिसने अभी तक कृष्णभावनामृत में रुचि का विकास नहीं कर लिया है, उसे सारी भौतिक प्रेरणाओं को त्याग देना चाहिए और समुन्नत विधि-विधानों का, अर्थात् कृष्ण तथा उनके नाम, रूप, गुण, लीलाओं आदि के कीर्तन तथा स्मरण का पालन करते हुए अपने मन को प्रशिक्षित करना चाहिए। इस प्रकार ऐसी वस्तुओं के लिए रुचि उत्पन्न करके मनुष्य को वृन्दावन में रहने तथा किसी योग्य भक्त के निर्देशन एवं संरक्षण में कृष्ण के नाम, यश, लीलाओं तथा गुणों को स्मरण करने में अपना समय बिताना चाहिए। भक्ति के अनुशीलन

के विषय में समस्त उपदेशों का यही सारांश है।

नवदीक्षित अवस्था में मनुष्य को सदैव कृष्णकथा सुननी चाहिए। यह *श्रवणदशा* कहलाती है। कृष्ण के दिव्य पवित्र नाम का निरन्तर श्रवण करने से तथा उनके दिव्य रूप, गुणों तथा लीलाओं के विषय में श्रवण करने से मनुष्य *वरण-दशा* को अर्थात् स्वीकृति के स्तर को प्राप्त करता है। इस दशा को प्राप्त कर लेने पर वह कृष्णकथा सुनने में अनुरक्त हो जाता है। जब कोई ऊर्मि में कीर्तन करने लगता है, तो वह *स्मरणावस्था* अर्थात् स्मरण करने की अवस्था को प्राप्त करता है। उन्नत कृष्ण-स्मरण के पाँच क्रमिक अंग हैं—स्मृति, धारणा, ध्यान, अनुस्मृति तथा समाधि। प्रारम्भ में कृष्ण का स्मरण थोड़े-थोड़े अन्तराल पर खण्डित हो सकता है, लेकिन इसके बाद स्मरण अबाध रूप से चलता है। जब स्मरण निरन्तर होता है, तो केन्द्रित होकर वह ध्यान कहलाता है और जब ध्यान विस्तृत होकर स्थिर हो जाता है, तो वह अनुस्मृति कहलाता है। अबाध तथा अनवरत अनुस्मृति से मनुष्य समाधिदशा को प्राप्त होता है। स्मरणदशा या समाधि के पूर्ण विकसित हो लेने पर आत्मा अपनी मूल वैधानिक स्थिति को समझ सकता है। उस समय वह कृष्ण के साथ अपने सनातन सम्बन्ध को भलीभाँति तथा पूर्णतया समझ सकता है। यह *सम्पत्ति-दशा* अर्थात् जीवन की पूर्णता कहलाती है।

चैतन्यचरितामृत में नवदीक्षितों को यह सलाह दी गई है कि वे सारी भौतिक इच्छाएँ त्याग दें और शास्त्रों के आदेशानुसार भगवान् की नियमित भक्ति में लग जाँए। इस प्रकार नवदीक्षित

भक्त कृष्ण के नाम, यश, रूप, गुणों आदि के लिए अनुराग उत्पन्न कर सकता है। एक बार ऐसा अनुराग विकसित हो जाने पर वह विधि-विधानों का पालन किये बिना भी कृष्ण के चरणकमलों की सेवा तत्काल कर सकता है। यह दशा *रागभक्ति* कहलाती है, जिसका अर्थ है, स्वयंस्फूर्त प्रेम में की जाने वाली भक्तिमय सेवा। इस अवस्था में भक्त वृन्दावन में कृष्ण के किसी एक नित्य पार्षद के चरणचिह्नों का अनुगमन कर सकता है। यह *रागानुभक्ति* कहलाती है। *रागानुभक्ति* अर्थात् स्वयंस्फूर्त भक्तिमय सेवा *शान्त-रस* में सम्पन्न की जा सकती है, जब मनुष्य अपने को कृष्ण की गौवों के समान या लकुटी के समान या कृष्ण के हाथ की वंशी के समान या कृष्ण के गले में पड़ी पुष्पमाला के समान बनने की आकांक्षा करता है। *दास्य-रस* में मनुष्य, चित्रक, पत्रक या रक्तक जैसे सेवकों के पदचिह्नों का अनुसरण करता है। *सख्य-रस* में मनुष्य बलदेव, श्रीदामा या सुदामा जैसा मित्र बन सकता है। *वात्सल्य-रस* में मनुष्य नन्द-महाराज तथा यशोदा के समान बन सकता है और *माधुर्य-रस* में, जिसकी विशेषता दाम्पत्य प्रेम है, मनुष्य श्रीमती राधारानी या उनकी ललिता जैसी सखीयाँ तथा उनकी दासीयाँ—मञ्जरियों यथा रूप तथा रति—जैसा बन सकता है। भक्ति के विषय में समस्त उपदेश का सार यही है।" ●

श्लोक ९

वैकुण्ठाज्जनितो वरा मधुपुरी तत्रापि रासोत्सवाद्
वृन्दारण्यमुदारपाणिरमणात्तत्रापि गोवर्धनः ।
राधाकुण्डमिहापि गोकुलपतेः प्रेमामृताप्लावनात्
कुर्यादस्य विराजतो गिरितटे सेवां विवेकी न कः ॥ ९ ॥

वैकुण्ठात्—वैकुठ की अपेक्षा; **जनितः**—जन्म के कारण; **वरा**—श्रेष्ठ; **मधु-पुरी**—मथुरा नामक दिव्य नगरी; **तत्र अपि**—उससे भी श्रेष्ठ; **रास-उत्सवात्**—रासलीला सम्पन्न होने के कारण; **वृन्दा-अरण्यम्**—वृन्दावन का वन; **उदार-पाणि**—भगवान् कृष्ण के; **रमणात्**—विभिन्न प्रकार की प्रेममयी लीलाओं के कारण; **तत्र अपि**—उससे भी श्रेष्ठ; **गोवर्धनः**—गोवर्धन पर्वत; **राधा-कुण्डम्**—राधाकुंड नामक स्थल; **इह अपि**—इससे भी श्रेष्ठ; **गोकुल-पतेः**—गोकुल के स्वामी कृष्ण का; **प्रेम-अमृत**—दैवी प्रेम के अमृत से; **आप्लावनात**—आपूरित होकर; **कुर्यात्**—करेगा; **अस्य**—इस (राधाकुंड) का; **विराजतः**—स्थित; **गिरि-तटे**—गोवर्धन पर्वत की तलहटी में; **सेवाम्**—सेवा; **विवेकी**—बुद्धिमान; **न**—नहीं; **कः**—कौन।

अनुवाद

मथुरा नामक पवित्र स्थान आध्यात्मिक दृष्टि से वैकुण्ठ से श्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान् वहाँ प्रकट हुए थे। मथुरा पुरी से श्रेष्ठ वृन्दावन का दिव्य वन है, क्योंकि वहाँ कृष्ण ने

रासलीला रचाई थी। वृन्दावन के वन से भी श्रेष्ठ गोवर्धन पर्वत है, क्योंकि इसे श्रीकृष्ण ने अपने दिव्य हाथ से उठाया था और यह उनकी विविध प्रेममयी लीलाओं का स्थल रहा और इन सबों में परम श्रेष्ठ श्री राधाकुण्ड है, क्योंकि यह गोकुल के स्वामी श्रीकृष्ण के अमृतमय प्रेम से आप्लावित रहता है। तब भला ऐसा कौन बुद्धिमान व्यक्ति होगा, जो गोवर्धन पर्वत की तलहटी पर स्थित इस दिव्य राधाकुण्ड की सेवा करना नहीं चाहेगा?

तात्पर्य

आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सम्पूर्ण सृष्टि के तीन चौथाई भाग में फैला है और यह सर्वाधिक उन्नत क्षेत्र है। आध्यात्मिक जगत स्वभावत: भौतिक जगत से श्रेष्ठ है, किन्तु मथुरा तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र, इस भौतिक जगत में होते हुए भी आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) से श्रेष्ठ माने जाते हैं, क्योंकि मथुरा में साक्षात् भगवान् स्वयं प्रकट हुए थे। वृन्दावन के भीतरी जंगल मथुरा से श्रेष्ठ माने जाते हैं, क्योंकि इनमें ऐसे बारह वन (*द्वादश-वन*) हैं, जैसे तालवन, मधुवन, बहुलावन इत्यादि जो भगवान् की विविध लीलाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार वृन्दावन का आन्तरिक वन मथुरा से श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु इन वनों से भी श्रेष्ठ गोवर्धन पर्वत है, क्योंकि कृष्ण ने इसे देवताओं के राजा इन्द्र द्वारा क्रुद्ध होकर की गई मूसलाधार वर्षा से अपने संगी व्रजवासियों की रक्षा करने के लिए अपने कमल-

सदृश सुन्दर हाथ से छाते की भाँति उठा लिया था। गोवर्धन पर्वत पर ही कृष्ण अपने गोपमित्रों के साथ गौएँ चराते थे और वहीं पर वे अपनी प्रियतमा श्रीराधा से मिला करते थे और उसके साथ प्रेममयी लीला करते थे। गोवर्धन पर्वत की तलहटी पर स्थित राधाकुण्ड इन सबों से श्रेष्ठ है, क्योंकि यह वही स्थान है, जहाँ कृष्ण का प्रेम उफनता रहता है। उच्चकोटि के भक्त राधाकुण्ड में निवास करना अधिक पसंद करते हैं, क्योंकि यह स्थान कृष्ण तथा राधारानी के पारस्परिक सनातन प्रेम-व्यापार की अनेक स्मृतियों (*रतिविलास*) का स्थल है।

चैतन्यचरितामृत (मध्यलीला) में कहा गया है कि जब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सर्वप्रथम वृन्दावन भूमि के दर्शन किये, तो वे आरम्भ में राधाकुण्ड के स्थान का पता नहीं लगा पाए। इसका अर्थ यह है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु वास्तव में राधाकुंड के सही स्थान की खोज में थे। अन्त में उन्हें वह पवित्र स्थान मिल गया, जहाँ पर एक छोटा सा तालाब था। उन्होंने उस छोटे से तालाब में स्नान किया और अपने भक्तों को बताया कि यही असली राधाकुण्ड है। बाद में भगवान् चैतन्य के भक्तों द्वारा इस ताल की खुदाई करवाई गई, जिनमें छ: गोस्वामी, यथा रूप तथा रघुनाथ दास आदि प्रमुख थे। इस समय वहाँ पर राधाकुण्ड नाम से एक विशाल सरोवर है। श्रील रूप गोस्वामी ने राधाकुण्ड को अत्याधिक महत्त्व प्रदान किया है, क्योंकि श्रीचैतन्य महाप्रभु इसे खोज निकालना चाहते थे। तब ऐसा कौन होगा, जो राधाकुण्ड को छोड़कर अन्यत्र निवास करना चाहे? दिव्य बुद्धि से युक्त

कोई भी व्यक्ति ऐसा करना नहीं चाहेगा। लेकिन राधाकुण्ड के महत्त्व को न तो अन्य वैष्णव सम्प्रदाय वाले समझ सकते हैं और न ही भगवान् चैतन्य महाप्रभु की भक्ति में अरुचि रखने वाले लोग ही राधाकुण्ड के आध्यात्मिक महत्त्व तथा उसकी दिव्य प्रकृति को समझ सकते हैं। इस प्रकार राधाकुण्ड मुख्यतया गौड़ीय वैष्णवों द्वारा पूजित है, जो भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी हैं। ●

श्लोक १०

कर्मिभ्यः परितो हरेः प्रियतया व्यक्तिं ययुर्ज्ञानिन-
स्तेभ्यो ज्ञानविमुक्तभक्तिपरमाः प्रेमैकनिष्ठास्ततः।
तेभ्यस्ताः पशुपालपङ्कजदृशस्ताभ्योऽपि सा राधिका
प्रेष्ठा तद्वदियं तदीयसरसी तां नाश्रयेत् कः कृती॥ १०॥

कर्मिभ्यः—समस्त सकाम कर्मियों की अपेक्षा; **परितः**—सभी प्रकार से; **हरेः**—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा; **प्रियतया**—प्रेमभाजन होने के कारण; **व्यक्तिम् ययुः**—शास्त्रों में कहा गया है; **ज्ञानिनः**—ज्ञानीजन; **तेभ्यः**—उनसे भी श्रेष्ठ; **ज्ञान-विमुक्त**—ज्ञान के द्वारा मुक्त हुए; **भक्ति-परमाः**—भक्ति में लगे हुए; **प्रेम-एक-निष्ठाः**—जिन्होंने ईश्वर का शुद्ध प्रेम प्राप्त कर लिया है; **ततः**—उनसे भी श्रेष्ठ; **तेभ्यः**—उनसे भी उच्चतर; **ताः**—वे; **पशु-पाल-पङ्कज-दृशः**—गोपियाँ, जो गाय चराने वाले कृष्ण

पर सदैव आश्रित हैं; **ताभ्यः**—उन सबसे ऊपर; **अपि**—निश्चय ही; **सा**—वह; **राधिका**—श्रीमती राधिका; **प्रेष्ठा**—अत्यन्त प्रिय; **तद्वत्**—उसी तरह; **इयम्**—यह; **तदीय-सरसी**—उनका सरोवर, श्रीराधाकुण्ड; **ताम्**—राधाकुण्ड की; **न**—नहीं; **आश्रयेत्**—शरण लेना चाहेगा; **कः**—कौन; **कृती**—अत्यन्त भाग्यशाली।

अनुवाद

शास्त्रों का कथन है कि सभी प्रकार के सकाम कर्मियों में परमेश्वर हरि उस पर विशेष कृपा करते हैं, जो जीवन के उच्चतर मूल्यों सम्बन्धी ज्ञान में उन्नत होता है। ऐसे ज्ञान में उन्नत अनेक लोग (ज्ञानियों) में से जो अपने ज्ञान के बल पर व्यावहारिक रूप से मुक्त हो जाता है, वह भक्ति ग्रहण कर सकता है। ऐसा व्यक्ति अन्यों से श्रेष्ठ है। किन्तु जिसने कृष्ण का शुद्ध प्रेम वास्तव में प्राप्त कर लिया है, वह उससे भी श्रेष्ठ है। गोपियाँ समस्त उच्चतर भक्तों से उत्कृष्ट हैं, क्योंकि वे दिव्य गोपाल-कृष्ण पर सदैव आश्रित रहती हैं। गोपियों में से श्रीमती राधारानी कृष्ण को सर्वाधिक प्रिय हैं। उनका कुण्ड कृष्ण को उसी प्रकार अत्यधिक प्रिय है, जिस तरह गोपियों में सर्वाधिक प्रिय यह राधारानी। तो ऐसा कौन होगा, जो राधाकुण्ड में नहीं रहना चाहेगा और उल्लासमय भक्तिभाव (*अप्राकृत भाव*) से पूरित आध्यात्मिक शरीर द्वारा श्री श्रीराधा-गोविन्द के दिव्य युगल जो नित्य ही अपनी अष्टकालीय लीला सम्पन्न करते हैं, उनकी प्रेममयी सेवा

करना नहीं चाहेगा। निस्सन्देह, जो लोग राधाकुण्ड के तट पर भक्ति करते हैं, वे ब्रह्माण्ड में सर्वाधिक भाग्यशाली व्यक्ति हैं।

तात्पर्य

इस समय प्राय: हर व्यक्ति किसी न किसी सकाम कर्म में लगा हुआ है। जो लोग कर्म करके भौतिक लाभ उठाना चाहते हैं, वे कर्मी कहलाते हैं। इस भौतिक जगत के सारे जीव माया के जादू से वशीभूत हो गये हैं। *विष्णुपुराण* (६.७.६१) में उसका वर्णन हुआ है :

विष्णुशक्ति: पराप्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीयाशक्तिरिष्यते ॥

मुनियों ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शक्ति को तीन कोटियों में विभक्त किया है—आध्यात्मिक शक्ति, तटस्था शक्ति तथा भौतिक शक्ति। भौतिक शक्ति को तीसरी श्रेणी की शक्ति (*तृतीया शक्ति:*) माना जाता है। जो जीव भौतिक शक्ति की सीमा के भीतर हैं, वे कभी-कभी इन्द्रियतृप्ति के लिए कूकरों-सूकरों की तरह कठोर श्रम में लगे रहते हैं। किन्तु इस जीवन में या पुण्यकर्म करने पर अगले जीवन में कुछ कर्मी वेदों में वर्णित विविध यज्ञों को सम्पन्न करने के प्रति प्रबल रूप से आकर्षित होते हैं। इस प्रकार अपने पुण्यों के बल पर वे स्वर्गलोक को भेजे जाते हैं। वास्तव में जो लोग वैदिक आदेशों के अनुसार ही यज्ञ करते हैं, वे चन्द्रलोक तथा उससे ऊपर के लोकों को भेजे जाते हैं। जैसाकि

भगवद्गीता (९.२१) में उल्लेख है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—अपने तथाकथित पुण्यकर्मों के फलों के क्षीण होने पर वे पुन: पृथ्वी पर लौट आते हैं, जो *मर्त्यलोक* अर्थात् मृत्यु का स्थान कहलाती है। यद्यपि ऐसे लोग अपने पुण्यकर्मों से स्वर्ग जा सकते हैं और वहाँ हजारों वर्षों तक जीवन का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, तो भी उन्हें अपने पुण्यकर्मों के फलों के क्षीण होने पर इस लोक में लौटना पड़ता है।

यह स्थिति सभी सकाम कर्मियों की है, चाहे वे पुण्य करने वाले हों या पाप करने वाले। इस ग्रह पर अनेक व्यापारी, राजनीतिज्ञ तथा अन्य ऐसे लोग हैं, जो केवल भौतिक सुख में रुचि रखते हैं। वे सभी प्रकार के साधनों से धन कमाने का प्रयास करते हैं, चाहे वह साधन अच्छा हो या बुरा। ऐसे लोग *कर्मी* या निपट भौतिकतावादी कहलाते हैं। इन कर्मीयों में कुछ *विकर्मी* होते हैं, जो वैदिक ज्ञान के मार्गदर्शन के बिना ही कर्म करते हैं। जो लोग वैदिक ज्ञान के आधार पर कर्म करते हैं, वे भगवान् विष्णु की तुष्टि के लिए तथा उनसे वरदान प्राप्त करने के लिए यज्ञ करते हैं। इस प्रकार वे उच्चतर लोकों में उन्नत होते हैं। ऐसे कर्मी विकर्मीयों से श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि वे वैदिक निर्देशों के प्रति आज्ञाकारी बने रहते हैं और वे निश्चय ही कृष्ण के प्रिय हैं। *भगवद्गीता* (४.११) में कृष्ण कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—"जो जिस रूप में मेरी शरण में आता है, उसे मैं तदनुसार फल देता हूँ।" कृष्ण इतने दयालु हैं कि वे कर्मीयों तथा ज्ञानियों की इच्छा-पूर्ति करते हैं, तो फिर भक्तों के

विषय में तो कहना ही क्या? यद्यपि कर्मीजन कभी-कभी उच्चतर लोकों को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु जब तक वे सकाम कर्म के प्रति आसक्त रहते हैं, तब तक उन्हें मृत्यु के पश्चात् नवीन भौतिक देह धारण करनी होती है। यदि कोई पुण्य कर्म करता है, तो स्वर्गलोक में वह या तो दवताओं के मध्य नवीन शरीर धारण करता है या उसे कोई अन्य पद प्राप्त होता है, जिसमें वह और अधिक सुख भोग सकता है। दूसरी ओर, जो लोग पापकर्मों में लगे हैं, वे पतित होकर पशुओं, वृक्षों तथा पौधों के रूप में जन्म लेते हैं। इस प्रकार जो सकाम कर्मी वैदिक आदेशों की परवाह नहीं करते (*विकर्मी*) वे विद्वान् साधु पुरुषों द्वारा प्रशंसित नहीं होते। *श्रीमद्भागवत* (५.५.४) में कहा गया है :

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म
यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देहः॥

"भौतिकतावादी लोग, जो केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए कूकरों-सूकरों की तरह कार्य करते हैं, वास्तव में पागल हैं। वे केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए सभी प्रकार के गर्हित कार्य करते हैं। भौतिकतावादी कार्यकलाप बुद्धिमान व्यक्ति के लिए तनिक भी शोभा नहीं देते, क्योंकि ऐसे कर्म करने से मनुष्य को भौतिक शरीर मिलता है, जो दुखमय होता है।" मनुष्य जीवन का उद्देश्य तीन प्रकार की दुखमय अवस्थाओं से बाहर निकलना है, जो

भौतिक अस्तित्व की भागरूप हैं। दुर्भाग्यवश सकाम कर्मी धन कमाने तथा येन-केन-प्रकारेण क्षणिक भौतिक सुख-सुविधा पाने के पीछे पागल हुए रहते हैं, अतएव वे निम्न योनियों में पतित होने का संकट मोल लेते हैं। भौतिकतावादी लोग इस भौतिक जगत में सुखी बनने के लिए मूर्खतावश अनेक योजनाएँ बनाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उन्हें कुछ ही वर्ष जीवित रहना है, जिसका अधिकांश भाग इन्द्रियतृप्ति के लिए धन अर्जित करने में बीत जाएगा। अन्ततोगत्वा ऐसे कर्म मृत्यु के साथ धरे के धरे रह जायेंगे। भौतिकवादी यह नहीं सोचते कि इस शरीर को त्यागने पर वे निम्न पशुओं या पौधों या वृक्षों का शरीर धारण कर सकते हैं। इस तरह उनके सारे कार्य जीवन के उद्देश्य को पराजित करने वाले होते हैं। वे न केवल अज्ञानी के रूप में उत्पन्न होते हैं, अपितु अज्ञान के धरातल पर यह साचते हुए कर्म भी करते हैं कि वे गगनचुम्बी इमारतों, बड़ी-बड़ी मोटरकारों, सम्माननीय पदों आदि के रूप में भौतिक लाभ भी प्राप्त कर रहे हैं। वे यह नहीं जानते कि अगले जन्म में वे पतित होंगे और उनके सारे कार्यकलाप उनके *पराभव* या पराजय स्वरूप होंगे। यही *श्रीमद्भागवत* (५.५.५) का निर्णय है—*पराभवस्तावद्-अबोधजातः।*

अतएव मनुष्य को आत्मा का विज्ञान (*आत्मतत्त्व*) समझने के लिए उत्सुक रहना चाहिए। जब तक मनुष्य आत्मतत्त्व के उस स्तर पर नहीं पहुँचता, जिससे वह समझ सकता है कि वह शरीर नहीं अपितु आत्मा है, तब तक वह अज्ञान के स्तर पर रहता है।

ऐसे हजारों-लाखों अज्ञानी लोगों में से जो अपनी इन्द्रियों की तुष्टि मात्र में ही सारा समय गँवाते रहते हैं, कोई एक व्यक्ति ही ज्ञान के स्तर तक पहुँच सकता है तथा जीवन के उच्चतर मूल्यों को समझ सकता है। ऐसा व्यक्ति *ज्ञानी* कहलाता है। ज्ञानी जानता है कि सकाम कर्म उसे संसार से बाँध देंगे और एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करने के लिए बाध्य करेंगे। जैसाकि श्रीमद्भागवत में *शरीर-बन्धः* पद से संकेत दिया गया है, जब तक मनुष्य इन्द्रियभोग की कोई भी धारणा रखता है, तब तक उसका मन सकाम कर्म में प्रवृत्त रहता है। इससे वह एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करने के लिए बाध्य होता है।

इस प्रकार ज्ञानी को कर्मी से श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि वह कम से कम इन्द्रियभोग के अंधे कार्यकलापों से तो बचता है। यह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का निर्णय है। यद्यपि ज्ञानी कर्मीयों के अज्ञान से मुक्त हो सकता है, फिर भी जब तक वह भक्तिमय सेवा के स्तर तक नहीं पहुँच जाता, तब तक वह अज्ञान (*अविद्या*) में स्थित है ऐसा माना जाता है। भले ही कोई ज्ञानी या ज्ञान में उन्नत मान लिया जाये, किन्तु उसका ज्ञान अशुद्ध माना जाता है, क्योंकि उसे भक्तिमय सेवा का पता नहीं रहता है और इस तरह वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की प्रत्यक्ष सेवा की उपेक्षा करता है।

जब ज्ञानी भक्तिमय सेवा में संलग्न होता है, तो वह सामान्य ज्ञानी की तुलना में शीघ्र श्रेष्ठ बन जाता है। ऐसा समुन्नत व्यक्ति *ज्ञानविमुक्तभक्तिपरम* कहलाता है। ज्ञानी जिस तरह भक्तिमय

सेवा ग्रहण करता है, उसका उल्लेख *भगवद्गीता* (७.१९) में हुआ है, जिसमें कृष्ण कहते हैं :

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"जो अनेकानेक जन्मान्तरों के बाद वास्तव में ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह मुझे समस्त कारणों तथा प्रत्येक वस्तु का कारण जानकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।" वास्तव में चतुर पुरुष वही है, जो कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, लेकिन ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।

विधि-विधानों के अनुसार भक्ति स्वीकार करने के बाद नारद तथा सनक-सनातन जैसे परम भक्तों के पदचिह्नों पर चलकर मनुष्य ईश्वर के सहज प्रेम के पद को प्राप्त कर सकता है। तब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उसे श्रेष्ठ मानने लगते हैं। जिन भक्तों ने ईश्वर-प्रेम विकसित कर लिया है, वे निश्चय ही उच्च पद पर हैं।

समस्त भक्तों में गोपियाँ श्रेष्ठ मानी जाती हैं, क्योंकि वे कृष्ण को तुष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानतीं। न ही वे कृष्ण से बदले में कुछ आशा करती हैं। निस्सन्देह, कभी-कभी कृष्ण ही उनसे अपने को विलग करके उन्हें अतीव कष्ट प्रदान करते हैं। फिर भी वे कृष्ण को भूल नहीं सकतीं। जब कृष्ण वृन्दावन से मथुरा चले गये, तो गोपियाँ अत्यधिक निराश हो गईं और उन्होंने अपना शेष जीवन केवल कृष्ण के वियोग में

रो-रोकर बिता दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि एक तरह से वे वास्तव में कृष्ण से विलग कभी नहीं हुईं। कृष्ण का चिन्तन करने तथा उनके संग रहने में कोई अन्तर नहीं है। प्रत्युत *विप्रलम्भ सेवा* जो वियोग में कृष्ण का चिन्तन है, जैसाकि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कर दिखाया, कृष्ण की प्रत्यक्ष सेवा करने से बेहतर है। इस प्रकार जितने सारे भक्तों ने कृष्ण के लिए अनन्य भक्तिप्रेम विकसित किया है, उनमें गोपियाँ श्रेष्ठ हैं और इन उच्च गोपियों में भी श्रीमती राधारानी सर्वोच्च हैं। श्रीमती राधारानी की भक्ति से कोई भी आगे नहीं बढ़ सकता। यहाँ तक कि कृष्ण भी श्रीमती राधारानी के भाव को समझ नहीं पाते, अतएव वे उनका (राधा का) भाव ग्रहण करके श्रीचैतन्य महापभु के रूप में प्रकट हुए, जिससे वे उनके दिव्य मनोभावों को समझ सकें।

इस प्रकार श्रील रूप गोस्वामी क्रमशः यह निष्कर्ष निकालते हैं कि श्रीमती राधारानी कृष्ण की सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं और उनका कुण्ड, श्रीराधाकुण्ड, सर्वाधिक पूज्य स्थल है। इसकी पुष्टि *लघु-भागवतामृत* (*उत्तराखण्ड* ४५) के एक उद्धरण से होती है, जिसे *चैतन्यचरितामृत* में दिया गया है :

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्व गोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ॥

"जिस प्रकार श्रीमती राधारानी भगवान् कृष्ण (विष्णु) को प्रिय हैं, उसी प्रकार उनके स्नान का स्थान (राधाकुण्ड) भी उन्हें

उतना ही प्रिय है। समस्त गोपियों में वे ही अकेले भगवान् की परम प्रिया के रूप में हैं।"

अतएव कृष्णभावनामृत में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अन्ततः राधाकुण्ड की शरण ग्रहण करनी चाहिए और वहाँ रहकर आजीवन भक्ति करनी चाहिए। *उपदेशामृत* के दसवें श्लोक में रूप गोस्वामी का यही निष्कर्ष है। ●

श्लोक ११

कृष्णस्योच्चैः प्रणयवसतिः प्रेयसीभ्योऽपि राधा
कुण्डं चास्या मुनिभिरभितस्तादृगेव व्यधायि ।
यत्प्रेष्ठैरप्यलमसुलभं किं पुनर्भक्तिभाजां
तत्प्रेमेदं सकृदपि सरः स्नातुराविष्करोति॥ ११ ॥

कृष्णस्य—भगवान् श्रीकृष्ण का; **उच्चैः**—अत्यधिक ऊँचा; **प्रणय-वसतिः**—प्रेम का पात्र; **प्रेयसीभ्यः**—अनेक प्रेयसी गोपिकाओं में से; **अपि**—निश्चय ही; **राधा**—श्रीमती राधारानी; **कुण्डम्**—सरोवर; **च**—भी; **अस्याः**—उनका; **मुनिभिः**—मुनियों के द्वारा; **अभितः**—सभी प्रकार से; **तादृक एव**—उसी तरह; **व्यधायि**—वर्णित है; **यत्**—जो; **प्रेष्ठैः**—परमोच्च भक्तों द्वारा; **अपि**—भी; **अलम्**—पर्याप्त; **असुलभम्**—प्राप्त करना कठिन; **किम्**—क्या; **पुनः**—फिर; **भक्ति-भाजाम्**—भक्ति में लगे हुए व्यक्तियों के लिए; **तत्**—वह; **प्रेम**—ईश्वर प्रेम; **इदम्**—

यह; **सकृत्**—एक बार; **अपि**—भी; **सरः**—सरोवर; **स्नातुः**—जिसने स्नान कर लिया है; **अविष्करोति**—प्रकट कर देता है।

अनुवाद

अनेक आमोद की वस्तुओं तथा व्रजभूमि की समस्त प्रेयसी बालाओं में से श्रीमती राधारानी निश्चय ही कृष्णप्रेम की सर्वाधिक अमूल्य निधि हैं। हर प्रकार से उनका दिव्य कुण्ड मुनियों द्वारा कृष्ण को उतना ही प्रिय वर्णित किया गया है। निस्सन्देह, राधाकुण्ड महान् भक्तों के लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है, अतएव सामान्य भक्तों के लिए इसे प्राप्त कर पाना तो और भी कठिन है। यदि कोई इसके पवित्र जल में केवल एक बार स्नान कर ले, तो उसमें कृष्ण के लिए शुद्ध प्रेम पूर्णतः प्रकट हो जाता है।

तात्पर्य

राधाकुण्ड इतना पूज्य क्यों है? यह सरोवर इसलिए पूज्य है, क्योंकि यह श्रीमती राधारानी का है, जो श्रीकृष्ण की सर्वाधिक प्रिय पात्रा हैं। वे समस्त गोपियों में से सर्वाधिक प्रिय हैं। इसी प्रकार उनका सरोवर श्रीराधाकुण्ड भी बड़े-बड़े मुनियों द्वारा ऐसे सरोवर के रूप में वर्णित किया गया है, जो कृष्ण को साक्षात् राधा के ही समान प्रिय है। निस्सन्देह, राधाकुण्ड तथा श्रीमती राधा के लिए कृष्ण का प्रेम सभी तरह से एक-जैसा है। यह राधाकुण्ड भक्ति में पूरी तरह संलग्न बड़े-बड़े पुरुषों तक के लिए अत्यन्त दुर्लभ है, तो फिर उन सामान्य भक्तों के लिए क्या कहा

जाये, जो केवल वैधीभक्ति के अभ्यास में लगे रहते हैं?

ऐसा कहा जाता है कि जो भक्त राधाकुण्ड में एक बार स्नान कर लेता है, वह तुरन्त कृष्ण के प्रति गोपियों जैसा प्रेमभाव उत्पन्न कर लेता है। श्रील रूप गोस्वामी संस्तुति करते हैं कि यदि कोई राधाकुण्ड के किनारे स्थायी रूप से न भी रह सके, तो कम से कम जिननी बार हो सके इस सरोवर में स्नान तो कर ही ले। भक्ति सम्पन्न करने में यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। इस प्रसंग में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर लिखते हैं कि जो लोग श्रीमती राधारानी की सखियों तथा विश्वासपात्रा दासियों (मञ्जरियों) के रूप में अपनी भक्ति विकसित करने के इच्छुक हैं, उनके लिए राधाकुण्ड सर्वश्रेष्ठ स्थान है। जो लोग अपने आध्यात्मिक शरीरों (*सिद्ध-देह*) को पाकर भगवान् के दिव्य धाम, गोलोक वृन्दावन लौट जाने के इच्छुक हैं, उन्हें राधाकुण्ड में रहना चाहिए, उन्हें श्रीराधारानी की विश्वासपात्रा दासियों की शरण ग्रहण करनी चाहिए और उन्हीं के निर्देशन के अनुसार निरन्तर श्री राधा की सेवा करनी चाहिए। जो लोग श्रीचैतन्य महाप्रभु के संरक्षण में भक्ति करते हैं, उनके लिए यह सर्वश्रेष्ठ विधि है। इसके सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर लिखतें हैं कि नारद तथा सनक जैसे बड़े-बड़े मुनि एवं परम भक्त भी राधाकुण्ड तक आकर एक बार स्नान करने का अवसर प्राप्त नहीं कर पाते, तो फिर सामान्य भक्तों के विषय में क्या कहा जाये? यदि कोई महान् सौभाग्यवश राधाकुण्ड तक आने और एक बार भी स्नान करने का अवसर प्राप्त कर लेता है, तो वह कृष्ण के प्रति वैसा

ही दिव्य प्रेम विकसित कर सकता है, जिस तरह गोपियों ने किया था। यह भी संस्तुति की गई है कि मनुष्य राधाकुण्ड के तट पर निवास करे और भगवान् की प्रेममयी सेवा में तल्लीन रहे। उसे नियमित रूप से वहाँ स्नान करना चाहिए और श्रीराधा तथा उनकी सहायक-गोपियों की शरण ग्रहण करके सारी भौतिक धारणाओं का परित्याग कर देना चाहिए। यदि कोई जीवन भर इसी तरह संलग्न रहता है, तो शरीर छोड़ने पर वह श्रीराधा की वैसी ही सेवा करने के लिए भगवान् के पास लौट जाएगा, जैसाकि उसने अपने जीवन में राधाकुण्ड के किनारे रहकर सोचा था। निष्कर्ष यह है कि राधाकुण्ड के किनारे रहना तथा नित्य उसमें स्नान करना भक्ति की सर्वोच्च सिद्धि है। नारद जैसे महान् ऋषियों तथा भक्तों के लिए भी इस पद को प्राप्त कर पाना कठिन है। इस प्रकार श्री राधाकुण्ड की महिमा की कोई सीमा नहीं है। राधाकुण्ड की सेवा करने से मनुष्य गोपियों के शाश्वत मार्गदर्शन में रहकर श्रीमती राधारानी के सहायक बनने का अवसर प्राप्त कर सकता है। ●

लेखक परिचय

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद का आविर्भाव १८९६ ई. में भारत के कलकत्ता नगर में हुआ था। अपने गुरु महाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी से १९२२ में कलकत्ता में उनकी प्रथम बार भेंट हुई। एक सुप्रसिद्ध धर्म तत्त्ववेत्ता, अनुपम प्रचारक, विद्वान-भक्त, आचार्य एवं चौंसठ गौड़ीय मठों के संस्थापक श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती को ये सुशिक्षित नवयुवक प्रिय लगे और उन्होंने वैदिक ज्ञान के प्रचार के लिए अपना जीवन समर्पित करने की इनको प्रेरणा दी। श्रील प्रभुपाद उनके छात्र बने और ग्यारह वर्ष बाद (१९३३ ई.) प्रयाग (इलाहाबाद) में विधिवत् उनके दीक्षा-प्राप्त शिष्य हो गए।

अपनी प्रथम भेंट में ही श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्रील प्रभुपाद से निवेदन किया था कि वे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। आगामी वर्षों में श्रील प्रभुपाद ने *भगवद्गीता* पर एक टीका लिखी, गौड़ीय मठ के

पर सुन्दर मन्दिर हैं।

किन्तु, श्रील प्रभुपाद का सबसे बड़ा योगदान उनके ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ विद्वानों द्वारा इनकी प्रामाणिकता, गम्भीरता और स्पष्टता के कारण सर्वाधिक स्वीकार्य हैं और अनेक महाविद्यालयों में उच्चस्तरीय पाठ्यग्रन्थों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। श्रील प्रभुपाद की रचनाएँ ५० से अधिक भाषाओं में अनूदित हैं। १९७२ ई. में केवल श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए स्थापित भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विश्व का सबसे बड़ा प्रकाशक बन गया है। इस ट्रस्ट का एक अत्यधिक आकर्षक प्रकाशन श्रील प्रभुपाद द्वारा केवल अठारह मास में पूर्ण की गई उनकी एक अभिनव कृति है, जो बंगाली धार्मिक महाग्रन्थ श्री चैतन्यचरितामृत का सत्रह खण्डों में अनुवाद और टीका है।

बारह वर्षों में, अपनी वृद्धावस्था की चिन्ता न करते हुए श्रील प्रभुपाद ने विश्व के छहों महाद्वीपों की चौदह परिक्रमाएँ कीं। इतने व्यस्त कार्यक्रम के रहते हुए भी श्रील प्रभुपाद की उर्वरा लेखनी अविरत चलती रहती थी। उनकी रचनाओं से वैदिक दर्शन, धर्म, साहित्य और संस्कृति का एक यथार्थ ग्रन्थागार स्थापित हुआ है। ●

परिशिष्ट

विशिष्ट शब्दावली

अ

अधिदैविक क्लेश—अधिदैवी घटनाओं से उत्पन्न कष्ट।
अधिभौतिक क्लेश—अन्य जीवों द्वारा उत्पन्न कष्ट।
आध्यात्मिक क्लेश—अपने ही शरीर तथा मन से उत्पन्न कष्ट।
अन्तरङ्गा-शक्ति—परमेश्वर की आध्यात्मिक आन्तरिक-शक्ति।
अहङ्कार—मिथ्या गर्व, पदार्थ तथा आत्मा का मिलन-बिन्दु।
अविद्या—अज्ञान।
अत्याहार—आवश्यकता से अधिक संग्रह करना।
अष्टकालीय लीला—राधागोविन्द की दैनिक अष्टविध नित्य लीलाएँ।

आ

आचार्य—गुरु, जो स्व-आचरण से शिक्षा देते हैं।
आत्म-तत्त्व—आत्म-विज्ञान।
आश्रम—जीवन की आध्यात्मिक व्यवस्था।

इ

इन्द्र—देवताओं का राजा।

उ

उत्तम अधिकारी—प्रथम श्रेणी का भक्त, जो भक्ति में काफी आगे बढ़ा हुआ हो और जिसने शुद्ध कृष्णभावनामृत प्राप्त किया हो।

उत्तमा-भक्ति—भगवान् के प्रति अनन्य भक्ति।

ए

एकादशी—(दोनों पक्षों की ग्यारहवीं तिथि) कृष्ण की अधिकाधिक स्मृति के लिए विशेष उपवास का दिन।

क

कनिष्ठ अधिकारी—नवदीक्षित भक्त, जिसकी श्रद्धा अचल नहीं हो पाई है।

कर्मी—सकाम कर्म करने वाला।

कृष्ण-कथा—कृष्ण विषयक या उनके द्वारा कही गई कथाएँ।

कीर्तन—परमेश्वर का महिमागान।

ग

गोदास—इन्द्रियों का दास।

गोपी—कृष्ण की ग्वालबाला सखियाँ जो माधुर्य प्रेम द्वारा भगवान से सम्बन्धित हैं।

गोस्वामी-वृन्दावन के—चैतन्य महाप्रभु के छः प्रमुख अनुयायी, जिन्होंने भक्ति सम्प्रदाय पर पुस्तकें लिखीं तथा वृन्दावन के खोये हुए पवित्र स्थानों का उत्खनन करवाया।

ज

जनसङ्ग—कृष्णभावनामृत में रुचि न रखने वाले व्यक्तियों की संगति।

जन्माष्टमी—कृष्ण का आविर्भाव दिवस।

जपमाला—हरे कृष्ण महामन्त्र जपने के लिए १०८ मणियों की माला।

जीवात्मा—सूक्ष्म जीव।

ज्ञानी—ज्ञान के अनुशीलन में लगा हुआ व्यक्ति।

त

तटस्थ शक्ति—भगवान् की तटस्था शक्ति।

तपस्या—आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करने के लिए कतिपय भौतिक असुविधाओं को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करना।

त्यागी—जो संन्यास आश्रम में हैं।

द

दास्य-रस—परमेश्वर के साथ सेवक-भाव का सम्बन्ध।

दीक्षा—आध्यात्मिक दीक्षा।

दुरात्मा—परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति के वशीभूत क्षुद्र हृदय वाला व्यक्ति।

प

पतित-पावन—पतितात्माओं का उद्धारक।

परमहंस—हंस जैसे भक्तों की सर्वोच्च श्रेणी।

प्रजल्प—अनावश्यक बोलना।

प्रयास—वृथा प्रयत्न।

प्रसाद—कृष्ण को अर्पित भोजन का उच्छिष्ट भाग।

प्राकृत सहजिया—भौतिकतावादी छद्म भक्त।

प्रायश्चित्त—किये गये दुष्कर्म के लिए खेद व्यक्त करना।

प्रेम—कृष्ण का परिपक्व शुद्ध प्रेम।

ब

बहिरंगा शक्ति—परमेश्वर की भौतिक बहिरंगा शक्ति।

ब्रह्मा—प्रथम सृजित जीव, जो लोकों तथा योनियों के शरीरों की रचना करते हैं।

ब्रह्मचारी—गुरु के संरक्षण में रहने वाला अविवाहित छात्र।

ब्रह्मचर्य—यौनाचार से सर्वथा पृथक् रहने का व्रत।

ब्राह्मण—बुद्धिमान् श्रेणी के व्यक्ति, वर्णाश्रम धर्म की सामाजिक व्यवस्था में से प्रथम।

भ

भजन क्रिया—भक्ति का अभ्यास।
भाव—ईश्वर प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था।
भुक्तिकामी—भौतिक सुख में रुचि रखने वाला व्यक्ति।

म

मङ्गल आरती—भगवान् का अभिनन्दन करने के लिए प्रातःकाल सम्पन्न किया जाने वाला उत्सव।
मञ्जरी—गोपियों की दासी।
मध्यम अधिकारी—द्वितीय श्रेणी का भक्त, जिसने दीक्षा प्राप्त कर ली हो तथा भक्ति में पूरी तरह लगा हो।
मनोवेग—अशान्त मन की इच्छाएँ।
मन्त्र—शुद्ध शब्द ध्वनि जो भौतिक कल्मष से मन का उद्धार करे।
मर्त्यलोक—मृत्यु का लोक अथवा पृथ्वी लोक।
महाभागवत—अत्यधिक उन्नत भक्त।
महामन्त्र—उद्धार प्राप्ति के लिए महाकीर्तन—**हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे॥**
मुक्तिकामी—निराकार ब्रह्म से एकाकार होकर मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति।
माधुर्य रस—परमेश्वर के साथ माधुर्य प्रेम का रस, जैसाकि गोपियों ने प्रदर्शित किया।

र

रस—परमेश्वर के साथ प्रेम का आदान-प्रदान करते समय आस्वाद्य विशेष प्रेममयी मनोवृत्ति।
राग-भक्ति—स्वतः प्रवर्तित प्रेम की भक्ति।
रागानुगा भक्ति—वह रागभक्ति जिसमें भक्त वृन्दावन में कृष्ण के किसी पार्षद के चरणचिह्नों का अनुगमन करता है।

व

वात्सल्य रस—भगवान् के साथ माता-पिता जैसा सम्बन्ध।
विकर्मी—सकाम कर्मी जो वैदिक आदेशों का पालन नहीं करता।
विप्रलम्भ सेवा—वियोग में कृष्ण का चिन्तन।
विशुद्ध-सत्व—शुद्ध सत्त्व का पद।
वैधी भक्ति—गुरु के आदेश से या शास्त्रों के आदेशानुसार नियमित भक्ति के सिद्धान्तो का पालन।
वैष्णव अपराध—भगवान के भक्त के प्रति अपराध।

श

शान्तरस—परमेश्वर के साथ निष्क्रिय या उदासीन सम्बन्ध।
श्रवण—सुनने की भक्तिमयी विधि।

स

संकीर्तन—पवित्र नामों का सामूहिक उच्चारण।
संन्यास—संन्यास आश्रम।
सख्य रस—भगवान् के साथ मैत्री सम्बन्ध।
साध्य—ईश्वर साक्षात्कार हो जाने की अवस्था।
साधु—सन्त या भक्त।
समाधि—चेतना के ब्रह्म में तल्लीन होने पर अवचेतना की स्थिति।
स्मरण—स्मरण करने की भक्तिमयी विधि।
स्वामी—जो मन तथा इन्द्रियों को वश में करे; संन्यास आश्रम को प्राप्त व्यक्ति की उपाधि।

ह

हरि नाम दीक्षा—हरे कृष्ण महामन्त्र के कीर्तन की दीक्षा।

सन्दर्भ

चैतन्यचरितामृत (कृष्णदास कविराज) ६, १३, १४, ३६, ४९, ६०, ६४, ६६, ८४, ८९, ९३

प्रेम-विवर्त (श्रीजगदानन्द पण्डित) १५

भक्तिरसामृत-सिन्धु (श्रील रूप गोस्वामी) ३३, ३७, ६७, ८७, ८८

भगवद्गीता १९, ३५, ३७, ४२, ४३, ४५, ४८, ६७, ७१, ७२, ८०, ८६, ९७, १०१.

मुण्डक उपनिषद् ३५

लघु-भागवतामृत (श्रील रूप गोस्वामी) १०२

विष्णुपुराण ९६

श्रीईशोपनिषद् ३०

शिक्षाष्टक (चैतन्य महाप्रभु) ६, ४९

श्रीमद्भागवतम् २, ९, १६, २३, ४४, ५२, ५८, ६१, ६२, ९८, ९९

श्लोकानुक्रमणिका

निम्नलिखित श्लोकानुक्रमणिका में श्री उपदेशामृत के श्लोकों की प्रत्येक पंक्ति की सूचि वर्णमाला के क्रमानुसार दी गई है। प्रथम स्तम्भ में श्लोकों की पंक्ति, दूसरे में वह पंक्ति जिस श्लोक की है, उसका श्लोक क्रमांक और तीसरे में यह पंक्ति जिस पृष्ठ पर है, वह पृष्ठ क्रमांक दिये गये हैं।

अत्याहार: प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रह: ।	२	१७
उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तत्कर्मप्रवर्तनात् ।	३	३२
एतान्वेगान् यो विषहेत धीर:	१	१
कर्मिभ्य: परितो हरे: प्रियतया व्यक्तिं ययुर्ज्ञानिन-	१०	९४
कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम् ॥	८	८५
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा	७	७७
कुण्डं चास्या मुनिभिरभितस्तादृगेव व्यधायि ।	११	१०३
कुर्यादस्य विराजतो गिरितटे सेवां विवेकी न क: ॥	९	९१
कृष्णस्योच्चै: प्रणयवसति: प्रेयसीभ्योऽपि राधा	११	१०३
कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत	५	५६
गङ्गाम्भसां न खलु बुद्बुदफेनपङ्क्ति-	६	६९
जनसङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति ॥	२	१७
जिह्वावेगमुदरोपस्थ वेगम् ।	१	१
तत्प्रेमेदं सकृदपि सर: स्नातुराविष्करोति ॥	११	१०३
तन्नामरूपचरितादिसुकीर्तनानु-	८	८४

तिष्ठन् व्रजे तदनुरागि जनानुगामी	८	८५
तेभ्यस्ताः पशुपालपङ्कजदृशस्ताभ्योऽपि सा राधिका	१०	९४
तेभ्यो ज्ञानविमुक्तभक्तिपरमाः प्रेमैकनिष्ठास्ततः।	१०	९४
ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।	४	४५
दीक्षास्ति चेत्प्रणतिभिश्च भजन्तमीशम्।	५	५६
दृष्टैः स्वभावजनितैर्वपुषश्च दोषै-	६	६९
न प्राकृतत्वमिह भक्तजनस्य पश्येत्।	६	६९
निन्दादिशून्यहृदमीप्सितसङ्गलब्ध्या॥	५	५६
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिका नु।	७	७७
प्रेष्ठा तद्वदियं तदीयसरसी तां नाश्रयेत् कः कृती॥	१०	९४
ब्रह्मद्रवत्वमपगच्छति नीरधर्मैः॥	६	६९
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीति-लक्षणम्॥	४	४५
यत्प्रेष्ठैरप्यलमसुलभं किं पुनर्भक्तिभाजां	११	१०३
राधाकुण्डमिहापि गोकुलपतेः प्रेमामृताप्लावनात्	९	९१
वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं	१	१
वृन्दारण्यमुदारपाणिरमणात्तत्रापि गोवर्धनः।	९	९१
वैकुण्ठाज्जनितो वरा मधुपुरी तत्रापि रासोत्सवाद्	९	९१
शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्य-	५	५६
सङ्गत्यागात्सतो वृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिध्यति॥	३	३२
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥	१	१
स्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य।	८	८४
स्यात्कृष्णनामचरितादिसिताप्यविद्या-	७	७७
स्वाद्वी क्रमाद्भवति तद्गदमूलहन्त्री॥	७	७७